वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४९ अंक ११ नवम्बर २०११
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ११

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ।।९९।। - बुद्ध

– संसार को अनित्यस्वामी विवेकानन्द की पुण्य स्मृति में जानकर मेरा मन इसमें नहीं रमता ।

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति । तेन पूतिरन्तरतः॥१००॥

– जो झूठ बोलता है, वह अपवित्र है । इसके कारण उसके भीतर से दुर्गन्ध उठती है । (शतपथ ब्राह्मण, ३.१.२.१०)

आचार्यात्पादम् आदत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण च ।।१।।

– छात्र, अपनी विद्या का चतुर्थांश शिक्षक से ग्रहण करता है; चौथाई अंश अपनी बुद्धि से सीखता है, चौथाई भाग अपने सहपाठियों से जान लेता है और बाकी चौथाई भाग समय आने पर उसके मन में स्वत: ही उद्भासित हो उठता है ।

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं च महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ।।२।।

– जो व्यक्ति आत्मा रूपी इस महातीर्थ की उपेक्षा करते हुए बाह्य तीर्थों का परिभ्रमण करता रहता है, वह मानो अपने हाथ के महारत्न को फेंककर कांच के टुकड़ों की खोज में भटकता रहता है ।

आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम् ।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ।।३।।

– जो अपने पक्ष तथा दूसरे (शत्रु) पक्ष के बल तथा दुर्बलता को नहीं जानता, उसे शत्रुओं द्वारा अपमानित होना पड़ता है ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेत् नियतं शुचिः ।
अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः ।।४।।

– जो व्यक्ति संयम बरतता है, पवित्र रहता है, जिसमें अभिमान नहीं है और जो सभी प्राणियों के प्रति निज के समान आचरण करता है, वह हर प्रकार से मुक्त ही है ।

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ।।५।।

– इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपने लिए ही नहीं जीता अर्थात् सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ के निमित्त ही जीवन जीते हैं, परन्तु जो व्यक्ति दूसरों के हितार्थ जीवित रहता है, उसी का जीना सार्थक है ।

आत्मा नदी संयम-पुण्य-तीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।६।।

– आत्मारूपी पवित्र नदी के संयम तथा पुण्यरूपी तीर्थ हैं, उसमें सत्यरूपी जल भरा है, शील उसका घाट है, दया उसकी तरंगें हैं । हे युधिष्ठिर, तुम उसी नदी में स्नान करो । लौकिक जल से तुम्हारी अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होगी । (महा.)

आत्मैव परमं तीर्थं मुक्तिक्षेत्रं सनातनम् ।
त्रितापहारिणी यत्र मुक्तिगङ्गा विराजते ।।७।।

– अपने हृदय में स्थित आत्मा ही परम सनातन तीर्थस्थान (काशी) है, जहाँ तीनों तापों का हरण करनेवाली मुक्ति-रूपी गंगा सतत प्रवाहित हो रही हैं ।

आनृशंस्यं ही परो धर्मः ।।८।।

– अक्रूरता, अहिंसा या दया ही परम धर्म है ।

आदि-मध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं जगत् ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा ।।९।।

– चूँकि इस जीवन का आदि, मध्य तथा अन्त दु:खों से परिपूर्ण रहता है, अत: सब कुछ त्याग करके निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ रहना चाहिए ।

❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(छायानट–कहरवा)

छवि रामकृष्ण अनुपम ललाम।
चिर अस्ति-भाति-प्रिय मधुर-चारु,
सच्चिदानन्दमय पूर्णकाम।।

कंचनसम भास्वर नरकाया,
करती है दूर मोह-माया,
नित ध्यान करो निज अन्तर में,
ज्योतिर्मय अति नयनाभिराम।।

वह सुखकर सुन्दर स्तिमित रूप,
नख से शिख तक भासित अनूप,
मुखमण्डल पर है छटा मधुर,
हो स्मरण उन्हीं का दिवस-याम।।

वे निराकार आकार सहित,
आये जग में करने जनहित,
होवे 'विदेह' जो कृपादृष्टि,
तो जनम-मरण का हो विराम।।

– २ –

(कलावती-कहरवा)

नवालोक फैला अग-जग में,
दूर हुआ अज्ञान अँधार,
पुन: धर्म का राज्य बसाने,
आये रामकृष्ण अवतार।।

जो पुरुषोत्तम राम बने थे,
वंशीधारी श्याम बने थे,
धारण करके सात्त्विक काया,
जग में प्रगटे फिर इस बार।।

जड़ जन में चेतना जगाने,
साधकगण की साध मिटाने,
लीला की गंगा के तट पर, देख विमुग्ध हुआ संसार।।

– 'विदेह'

वराहनगर मठ और भारत-भ्रमण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि

वह दु:खद दिन आ पहुँचा, जब हमारे वृद्ध गुरुदेव ने महासमाधि ली। हमसे जितना हो सका, उनकी सेवा-सुश्रूषा की थी। हमारा कोई मित्र न था। कुछ विचित्र-सी विचारधारा वाले तरुणों की बातें भला कौन सुनता? कोई नहीं। कम-से-कम भारत में तो तरुणों की बातें कोई नहीं सुनता। जरा सोचो – बारह लड़के लोगों को विशाल महान् सिद्धान्त सुनायें और कहें कि वे इन विचारों को अपने जीवन में रूपायित करने को दृढ़-संकल्प हैं! हाँ, सबने हँसी उड़ाई। हँसी उड़ाते-उड़ाते वे गम्भीर हो गये – हमारा उत्पीड़न करने लगे। लड़कों के माता-पिता हमें क्रोध से धिक्कारने लगे और ज्यों-ज्यों लोगों ने हमारी खिल्ली उड़ायी, त्यों-त्यों हमारा संकल्प दृढ़तर होता गया।[१]

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "प्रात: और सायं मन सात्त्विक भावों से परिपूर्ण रहता है; उसी समय एकाग्र मन से ध्यान करना चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद हम वराहनगर के मठ में कितना जप-ध्यान किया करते थे! सुबह तीन बजे सभी जाग जाते। शौच आदि के बाद कोई स्नान करके और कोई कपड़े बदलकर मन्दिर में जाकर जप-ध्यान में डूब जाता था। उस समय हम लोगों में क्या ही वैराग्य का भाव था – दुनिया है या नहीं – इसका पता ही न था। शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) घर की गृहिणी की भाँति चौबीस घण्टे (मन्दिर में) श्रीरामकृष्ण की सेवा करता रहता था। वह स्वयं भिक्षा माँगकर श्रीरामकृष्ण के भोग आदि की और हम लोगों के भी खिलाने-पिलाने की सारी व्यवस्था करता था। ऐसे दिन भी गये हैं, जब सबेरे से लेकर चार-पाँच बजे शाम तक जप-ध्यान चलता रहता था। शशि खाना लेकर बहुत देर तक प्रतीक्षा में बैठा रहता और अन्त में किसी तरह हमें घसीटकर जप-ध्यान से उठा दिया करता था। अहा, शशि की कैसी अद्भुत निष्ठा देखी है!...

हम ठहरे साधु-संन्यासी! भिक्षा आदि माँगकर जो भी आता, उसी से मठ चला करता था। आज सुरेश बाबू, बलराम बाबू नहीं हैं। वे दो व्यक्ति आज होते तो इस (बेलूड़ के) मठ को देखकर कितने आनन्दित होते! तुमने सुरेश बाबू का नाम सुना होगा। उन्हें एक तरह से इस मठ का संस्थापक ही कहना चाहिए। वे ही वराहनगर मठ का सारा खर्च चलाते थे। सुरेश मित्र उस समय हम लोगों के लिए बहुत सोचा करते थे। उनकी भक्ति और विश्वास की तुलना नहीं।...

पैसे की तंगी के कारण कभी-कभी तो मैं मठ उठा देने के लिए झगड़ा किया करता था; परन्तु शशि को इस विषय में किसी भी तरह सहमत नहीं करा पाता था। शशि को हमारे मठ का केन्द्रस्वरूप समझना। एक दिन मठ में ऐसा अभाव हुआ कि कुछ भी नहीं था। भिक्षा माँगकर चावल लाया गया, तो नमक नहीं। कभी केवल नमक और चावल था, तो भी कोई परवाह नहीं। उन दिनों हम सब जप-ध्यान के प्रबल वेग में बह रहे थे। कुँदरू का पत्ता उबाला हुआ और नमक-भात, यही लगातार महीनों तक चला – ओह! वे कैसे दिन थे! परन्तु यह बात ध्रुव सत्य है कि यदि तुम्हारे अन्दर कुछ तत्त्व हो, तो बाह्य परिस्थिति जितनी ही विपरीत होगी, भीतर की शक्ति का उतना ही उन्मेष होगा। परन्तु अब जो मठ में खाट, बिछौना, खाने-पीने आदि की अच्छी व्यवस्था की गयी है, इसका कारण है। उन दिनों हम लोग जितना सहन कर सके हैं, उतना क्या आजकल जो लोग संन्यासी बनकर यहाँ आ रहे हैं, वे सहन कर सकेंगे? हमने श्रीरामकृष्ण का जीवन देखा है, इसीलिए हम दु:ख या कष्ट की विशेष परवाह नहीं करते थे। आजकल के लड़के उतनी कठोर साधना नहीं कर सकेंगे। इसीलिए रहने के लिए थोड़ा स्थान और दो दाने अन्न की व्यवस्था की गयी है। मोटा अन्न-वस्त्र पाने पर लड़के सारा मन साधन-भजन में लगायेंगे और जीवों के हित के लिए जीवनोत्सर्ग करना सीखेंगे।...

(प्रश्न – महाराज, मठ के ये सब खाट-बिछौने देखकर बाहर के लोग तरह-तरह की बातें कहते हैं।) – कहने दो।

हँसी उड़ाने के बहाने ही सही, एक बार तो यहाँ की बात मन में लायेंगे। शत्रुभाव से जल्दी मुक्ति होती है।[२]

श्रीरामकृष्ण के निर्वाण के बाद किस प्रकार सभी लोगों ने हमें कुछ निकम्मे और निर्धन बालक समझकर हमारा परित्याग कर दिया था। केवल बलराम, सुरेश, मास्टर (म) और चुनी बाबू जैसे लोग ही आवश्यकता के उन क्षणों में हमारे मित्र थे। हम उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते।[३]

उसके बाद मेरे और मेरे अन्य तरुण मित्रों के लिए भी एक भयंकर समय आया। पर मेरे लिये तो वह भीषण दुर्भाग्य था! एक ओर मेरी माता तथा भ्रातागण थे। तभी मेरे पिताजी का देहावसान हो गया और हम लोग निर्धन रह गये – इतने निर्धन कि हमेशा अनाहार की स्थिति बनी रहती। मैं ही परिवार की एकमात्र आशा था, जो कुछ करके उन्हें सहायता पहुँचा सकता था। मैं दो संसारों की सन्धि पर खड़ा था। एक ओर मेरी माता और भाइयों के भूखों मरने का दृश्य था और दूसरी ओर इन महापुरुष (श्रीरामकृष्ण) के विचार थे, जिनसे – मुझे लगता था कि न केवल भारत का, अपितु सारे विश्व का कल्याण हो सकता है और इसलिए जिनका प्रचार तथा क्रियान्वयन आवश्यक था। अत: मेरे मन में महीनों यह द्वन्द्व चलता रहा। कभी तो मैं पाँच-छह दिनों तक दिन-रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता। ओह, वह कैसी वेदना थी! मानो मैं नरक में जी रहा था। मेरे बाल्य हृदय का नैसर्गिक प्रेम मुझे परिवार की ओर खींच रहा था – अपने प्रिय जनों को कष्ट उठाते देखना मेरे लिये असह्य हो उठा। दूसरी ओर कोई मेरे प्रति सहानुभूति जतानेवाला भी न था। और एक बालक की ऐसी कल्पनाओं के साथ सहानुभूति भी भला कौन दिखाता, जो दूसरों को केवल कष्ट ही दे रही थीं? भला कौन मेरे प्रति सहानुभूति रखता? केवल एक (श्री सारदा देवी) को छोड़, अन्य कोई भी नहीं। उस एक की सहानुभूति से मुझे आशीष मिला, मुझमें आशा जगी।...

वे ही एक ऐसी देवी थीं, जिन्हें उन बालकों की विचारधारा से सहानुभूति थी। लेकिन उनके पास था ही क्या? वे तो हम लोगों से भी अधिक निर्धन थीं। खैर, हम लोग तो धारा में कूद ही पड़े थे। मेरा विश्वास था कि इन विचारों से भारतीय परम्परा और भी बुद्धिपरक होगी और इससे अनेक देशों तथा जातियों का कल्याण हो सकेगा। तभी यह अनुभव हुआ कि इन विचारों का नाश होने देने की जगह कहीं यही श्रेयस्कर है कि कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं अपने को मिटाते रहें! यदि एक माँ न रही, यदि दो भाई मर गये तो क्या बिगड़ जायगा? यह तो करना ही होगा। बिना बलिदान के कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कलेजे को बाहर निकालना होगा और उसे लहूलुहान अवस्था में पूजा की वेदी पर चढ़ा देना होगा। तभी कुछ महान् की उपलब्धि हो सकती है। कोई दूसरा भी मार्ग है क्या? अभी तक तो किसी को मिला नहीं। मैं तुम लोगों से यही प्रश्न करता हूँ – किसी सफल कार्य का कितना मूल्य चुकाना पड़ा है? कैसी वेदना – कैसी पीड़ा! प्रत्येक सफल क्रिया के पीछे कैसी भयानक यातना की कहानी है! हर जीवन में ही! तुम उसे जानते हो, तुममें से प्रत्येक व्यक्ति जानता है!

बस, इसी तरह हम लोग, हम बालकों का समूह चलता गया – बढ़ता गया। हमारे निकट के लोगों ने चारों ओर से हमें जो दिया, वह थी गाली और ठोकर। हमें द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगनी पड़ी। कहीं हमें दुत्कार मिली, तो कहीं घुड़की। इधर-उधर से रोटी के कुछ टुकड़े मिल जाते। आखिरकार हमें एक टूटा-फूटा खण्डहरनुमा घर भी मिल गया, जिसमें नीचे नाग फुफकारते रहते थे। पर चूँकि वही सबसे सस्ता था, हम उसमें गये और उसी में रहने लगे।

इसी तरह हमने कुछ बर्ष चलाया, बीच-बीच में सारे भारत का भ्रमण करते रहे। इस प्रकार हमने क्रमश: अपने विचारों को एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया। दस साल बीत गये, किन्तु प्रकाश की किरण न दिखी। हजारों बार निराशा आयी। पर इन सबके बीच सदैव आशा की एक किरण बनी रही – वह था हम लोगों का आपस में प्रचण्ड विश्वास और एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम। आज मेरे साथ करीब सौ मित्र हैं – स्त्री और पुरुष। वे ऐसे हैं कि यदि कल मैं शैतान भी बन जाऊँ, तो भी वे ढाढ़स बँधाते हुए कहेंगे, "अरे, हम अभी भी हैं! हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे!" यह प्रेम ही एक महान् वरदान है।

सुख में, दु:ख में, अकाल में, पीड़ा में, कब्र में, स्वर्ग में, नरक में जो मेरा साथ न छोड़े, सचमुच वही मेरा मित्र है। ऐसी मित्रता क्या हँसी-मजाक है? ऐसी मित्रता से तो मनुष्य को मोक्ष तक मिल सकता है। यदि हम इस प्रकार प्रेम कर सकें, तो उससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसी भक्ति आ जाय, तो वही सारी ध्यान-धारणाओं का सार है। इस संसार में यदि तुम्हारे पास वह श्रद्धा है, वह शक्ति है, वह प्रेम है, तो तुम्हें किसी भी देवता का पूजन करने की जरूरत नहीं। उन मुसीबत के दिनों में वही चीजें हम सबमें थीं और उसी के बल पर हमने हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक भ्रमण किया।

युवकों की वह टोली इसी प्रकार भ्रमण करती रही। धीरे-धीरे लोगों का ध्यान हमारी ओर आकृष्ट हुआ; जिनमें ९० प्रतिशत विरोधी थे, बहुत कम ही सहायक थे। हमारी सबसे बड़ी कमी यह थी कि हम सब युवा थे, निर्धन थे और युवकों की सारी अनम्रता हममें मौजूद थी। जिसे जीवन में खुद ही अपनी राह बनाकर चलना पड़ता है, वह थोड़ा अविनीत हो जाता है; उसे कोमल, नम्र और मिष्टभाषी बनकर

'मेरे सज्जनो, मेरी देवियो' आदि कहने का समय ही कहाँ था? तुमने जीवन में सदैव ऐसा ही देखा होगा। वह तो एक बिना तराशा हुआ अनगढ़ हीरा है। वह गलत डिबिया में पड़ा हुआ एक रत्न है।

हम लोग ऐसे थे कि 'समझौता नहीं करेंगे' – यही हमारा मूलमंत्र था। "आदर्श यह है और हमें इसे चरितार्थ करना होगा। यदि हमें राजा भी मिले, तो भी हम उससे अपनी बात कहे बिना न रहेंगे, भले ही इसके लिये हमें प्राणदण्ड ही क्यों न दिया जाय! यदि कृषक मिला, तो उससे भी यही कहेंगे।" अत: हमारा विरोध होना स्वाभाविक था।

परन्तु ध्यान रहे, यदि जीवन का अनुभव है। यदि तुम सचमुच ही परोपकार के लिए कटिबद्ध हो, तो सारा ब्रह्माण्ड भले ही तुम्हारा विरोध करे, किन्तु तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा। यदि तुम नि:स्वार्थ और हृदय के सच्चे हो, तो तुम्हारे अन्तर में निहित परमात्मा की शक्ति के समक्ष ये सारी विघ्न-बाधाएँ तार-तार हो जायेंगी। वे युवक बस ऐसे ही थे – प्रकृति की गोद से पवित्रता और ताजगी लिये हुए शिशुओं के समान थे। हमारे गुरुदेव ने कहा था, "मैं प्रभु की वेदी पर उन्हीं फूलों को चढ़ाना चाहता हूँ, जिनकी सुगन्ध अभी तक किसी ने न ली हो, जिन्हें किसी ने अपनी अँगुलियों से स्पर्श न किया हो।" उन महात्मा के ये शब्द हमें जीवन देते रहे। कलकत्ते की गलियों से चुने हुए इन बालकों के भावी जीवन की सारी रूपरेखा उन्होंने देख ली थी। जब वे कहते, "देखना, यह लड़का, वह लड़का आगे चलकर क्या होगा!" तो लोग उन पर हँसते थे। परन्तु उनका विश्वास अडिग था। वे कहते, "माँ (जगदम्बा) ने मुझे ऐसा दिखाया। मैं भले ही निर्बल हूँ, परन्तु माँ जब ऐसा कहती है, तो ऐसा अवश्य होगा – उससे कभी भूल नहीं हो सकती।'"

इसी तरह चलता रहा। दस साल बीत गये, पर प्रकाश न मिला। इधर स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था। शरीर पर इनका असर हुए बिना नहीं रह सकता था, क्योंकि कभी रात के नो बजे एक बार खा लिया, तो कभी सबेरे आठ बजे ही एक बार खाकर रह गये, तो अगली बार दो दिन के बाद खाया – फिर तीसरी बार तीन दिन के बाद; और हर बार नितान्त रूखा-सूखा, शुष्क, नीरस भोजन! अधिकांश समय पैदल ही चलते, बर्फीली चोटियों पर चढ़ते, कभी-कभी तो दस-दस मील पहाड़ पर चढ़ते चले जाते – केवल इसलिए कि एक बार का भोजन मिल जाय। बताओ भला, भिखारी को कौन अपना अच्छा भोजन देता है? सूखी रोटी ही भारत में उनका भोजन है और कई बार तो वे सूखी रोटियाँ बीस-बीस, तीस-तीस दिनों के लिए इकट्ठी करके रख ली जाती हैं और भिक्षुक को उसी ईंट के जैसी कड़ी रोटी का एक टुकड़ा दे दिया जाता है। एक बार का भोजन पाने के लिए मुझे द्वार-द्वार पर जाना पड़ता था। रोटी भी ऐसी कड़ी कि खाते-खाते मुँह से खून बहने लगता था। सच कहूँ तो वैसी रोटी से तुम्हारे दाँत टूट सकते हैं। रोटी को एक पात्र में रखकर मैं उसमें नदी का पानी उड़ेल देता। इस तरह महीनों गुज़ारने पड़े, निश्चय ही इन सबका प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ रहा था।[४]

जिसमें ऐसी अटल निष्ठा हो, उससे सब कुछ सिद्ध हो जाता है – हाँ, किसी-किसी का जरा विलम्ब से होता है, परन्तु होता है निश्चित रूप से! हम लोगों की ऐसी ही दृढ़ निष्ठा थी, इसीलिए थोड़ा-बहुत हो सका। नहीं तो जानते ही हो, हमारे कैसे दु:ख के दिन बीते हैं! एक बार तो ऐसा हुआ कि मैं भूख से बेहोश होकर रास्ते के किनारे एक मकान के बाहरी खुले बरामदे में गिर पड़ा था। वर्षा का जल सिर पर थोड़ी देर गिरता रहा, तब होश में आया। एक दूसरे समय सारे दिन बिना खाये कलकत्ते में कई तरह के काम निपटाता हुआ रात के दस-ग्यारह बजे मठ लौटा, तभी कुछ खा सका; और ऐसा सिर्फ एक दिन ही नहीं हुआ![५]

श्रीरामकृष्ण एक कुशल माली थे, इसीलिए तरह-तरह के फूलों से संघरूपी गुलदस्ते को तैयार कर गये हैं। जहाँ का जो कुछ भी अच्छा है, सब इसमें आ गया है – समय पर और भी कितने आयेंगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – जिसने एक दिन के लिए भी निश्छल चित्त से ईश्वर को पुकारा है, उसे यहाँ आना ही पड़ेगा।' जो लोग यहाँ हैं, वे एक-एक महान् सिंह हैं। ये मेरे पास दबकर रहते हैं, इसीलिए कहीं इन्हें मामूली लोग न समझ लेना। ये ही लोग जब बाहर निकलेंगे, तो इन्हें देखकर लोगों को चैतन्य प्राप्त होगा। इन्हें अनन्त भावमय श्रीरामकृष्ण के शरीर का अंश जानना। मैं उन्हें उसी भाव से देखता हूँ। वह जो राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) है, उसके जैसा धर्मभाव मेरा भी नहीं है। श्रीरामकृष्ण उसे मानस-पुत्र कहते थे, अपने हाथ से खिलाते थे, साथ सुलाते थे। वह हमारे मठ की शोभा है – हमारा राजा है। बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द), हरि (स्वामी तुरीयानन्द), सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द), गंगाधर (स्वामी अखण्डानन्द), शरत् (स्वामी सारदानन्द), शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द), सुबोध (स्वामी सुबोधानन्द) आदि के समान ईश्वर-विश्वासी लोग पृथ्वी भर में ढूँढ़ने पर भी शायद न मिलें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति धर्म-शक्ति का मानो एक-एक केन्द्र है। समय आने पर इन सबकी शक्ति का विकास होगा।[६]

ऐसे व्यक्तियों के एक संगठन का निर्माण करना, जो परस्पर मतभेद रखते हुए भी अटल प्रेमसूत्र से बँधे हुए हों, क्या एक आश्चर्यजनक बात नहीं है?[७]

प्रभु ईसा के सभी शिष्यगण संन्यासी थे। शंकर, रामानुज, श्रीचैतन्य तथा बुद्धदेव की साक्षात् कृपा प्राप्त करनेवाले सभी सर्वत्यागी संन्यासी थे। ये सर्वत्यागी लोग ही गुरु-परम्परा के

अनुसार जगत् में ब्रह्मविद्या का प्रचार करने आये हैं। कहीं कभी सुना है – काम-कांचन के दास बने रहकर भी कोई व्यक्ति जनता का उद्धार करने या ईश्वरप्राप्ति का उपाय बताने में समर्थ हुआ है? स्वयं मुक्त हुए बिना दूसरों को कैसे मुक्त किया जा सकता है? वेद, वेदान्त, इतिहास, पुराण – सर्वत्र देखोगे – संन्यासी ही सर्वकाल में सभी देशों में लोकगुरु के रूप में धर्म का उपदेश देते रहे हैं। यही इतिहास भी बताता है। इतिहास स्वयं को दुहराता है – **यथा पूर्वं तथा परम्**। अब भी वही होगा। महा-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण की योग्य संन्यासी सन्तानें ही जगत् में सर्वत्र लोकगुरुओं के रूप में पूजित हो रही हैं और होंगी।[८]

हमारे श्रीरामकृष्ण का आचरण, भाव आदि सब कुछ नये प्रकार का है, इसीलिए हम सब भी नये प्रकार के हैं। कभी अच्छे वस्त्र पहनकर भाषण देते हैं और कभी 'हर हर बम बम' – कहते हुए भस्म रमाये पहाड़ों-जंगलों में घोर तपस्या में तल्लीन हो जाते हैं।[९]

एक मेरी निजी अनुभव की बात सुनो। जब मेरे गुरुदेव ने शरीर त्यागा था, तब हम लोग बारह निर्धन और अज्ञात नवयुवक थे। हमारे विरुद्ध अनेक शक्तिशाली संस्थाएँ थीं, जो हमारी सफलता के शैशवकाल में ही हमें नष्ट करने का भरसक प्रयत्न कर रही थीं। परन्तु श्रीरामकृष्ण ने हमें एक बड़ा दान दिया था; और वह यह कि हम केवल बातें ही न करके यथार्थ जीवन जीने की इच्छा और उसके लिये आजीवन कठोर प्रयास करें। आज सारा भारत मेरे गुरुदेव को जानता है और पूज्य मानता है और उन्होंने जिन सत्यों की शिक्षा दी थी, वे अब दावानल के समान फैल रहे हैं। दस वर्ष हुए, उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए मैं सौ लोगों को भी एकत्र नहीं कर पाता था और पिछले वर्ष वे पचास हजार थे।[१०]

उनके विचार तथा उनका सन्देश ऐसे बहुत कम लोगों को ज्ञात था, जो उनका प्रचार कर पाते। अन्य लोगों के अतिरिक्त, वे कुछ सर्वत्यागी युवा बालकों को अपने पीछे छोड़ गये थे, जो उनका कार्य चलाने को तैयार थे। लोगों ने उन्हें दबाने की चेष्टा की, परन्तु मेरे गुरुदेव के असामान्य जीवन द्वारा उनके हृदय में जो प्रेरणा भरी हुई थी, उसके कारण वे लोग अचल बने रहे। वर्षों से उस परम मंगल विभूति के संग के कारण उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। यद्यपि इन युवकों में से कई बड़े उच्च घरानों के थे, तथापि वे जिस नगर में पैदा हुए थे, उसी की गलियों में भिक्षाटन करते हुए अपने कार्य में लगे रहे। पहले तो उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा और धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन वे उन महापुरुष के दिव्य सन्देश को पूरे भारत में फैलाने लगे; यहाँ तक कि सारा देश मेरे गुरुदेव के उपदेशों से गूँज उठा।[११]

मैं इस पर गर्व नहीं कर रहा हूँ। मैं तो उन बालकों की कहानी बता रहा हूँ। आज भारत में कोई ऐसा गाँव नहीं, कोई ऐसा पुरुष या नारी नहीं है, जिसे उनके कार्य का पता न हो, जिनका आशीर्वाद उन पर न बरसता हो। देश में ऐसा अकाल नहीं, जिसमें कूदकर काम करते हुए ये बालक अधिक-से-अधिक लोगों को बचाने की चेष्टा न करते हों।[१२]

मेरा विश्वास था और अब भी है कि यदि मैं संसार-त्याग न करता, तो मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस जिस महान् आदर्श का उपदेश करने आये थे, उसका प्रकाश नहीं होता; और वे नवयुवक कहाँ होते, जो आजकल के भौतिकवाद और भोग-विलास की उत्ताल तरंगों को परकोटे की तरह रोक रहे हैं? उन्होंने भारत का बहुत कल्याण किया है और अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। प्रभु की कृपा से ये लोग ऐसा काम करेंगे, जिसके लिए सारा संसार युग-युग तक इन्हें आशीर्वाद देगा। इसीलिए, एक ओर तो मेरे सामने था भारत तथा सारे संसार के धर्मों के विषय में मेरी परिकल्पना और उन लाखों नर-नारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते जा रहे हैं और कोई उनकी सहायता करने वाला नहीं है – यही नहीं, उनकी ओर तो कोई ध्यान तक नहीं देता – और दूसरी ओर था अपने निकटस्थ और प्रियजनों को दु:खी करना। मैंने पहला पक्ष चुना, "बाकी सब प्रभु करेंगे।" यदि मुझे किसी बात का विश्वास है, तो वह यह कि प्रभु मेरे साथ हैं। जब तक मैं निष्कपट हूँ, तब तक कोई भी मेरा विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि प्रभु ही मेरे सहायक हैं। भारत में अनेकानेक व्यक्ति मुझे समझ नही सके; और वे बेचारे समझते भी कैसे, क्योंकि भोजन आदि नित्य-क्रियाओं को छोड़कर उनका ध्यान कभी बाहर निकला ही नहीं। ... परन्तु मान हो या न हो, मैंने तो इन नवयुवकों को संगठित करने के लिए ही जन्म लिया है। यही नहीं, प्रत्येक नगर में सैकड़ों अन्य भी मेरे साथ जुड़ने के लिये तैयार हैं, और मैं चाहता हूँ कि इन्हें अदम्य गतिशील तरंगों की भाँति सारे भारत में भेज दूँ, ताकि वे दीन-हीनों तथा पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म तथा शिक्षा को पहुँचा सकें। और मैं इसे करूँगा या मरूँगा।[१३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड १०, पृ. १०; **२.** वही, खण्ड ६, पृ. २१७-१८; **३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३२९; **४.** वही, खण्ड १०, पृ. १०-१३; **५.** वही, खण्ड ६, पृ. २१९; **६.** वही, खण्ड ६, पृ. २२७; **७.** वही, खण्ड २, पृ. ३२५; **८.** वही, खण्ड ६, पृ. २३०; **९.** वही, खण्ड ६, पृ. १५७; **१०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३६; **११.** वही, खण्ड ७, पृ. २६६-६७; **१२.** वही, खण्ड १०, पृ. १७; **१३.** वही, खण्ड २, पृ. ३२२-२३
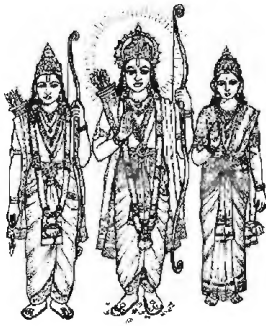
साधना, शरणागति और कृपा (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य विराजमान सभी संतों के चरणों में मैं सादर नमन करता हूँ, अभिवादन करता हूँ। श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने पुरुषार्थ, साधना, कृपा और शरणागति के विषय में कुछ प्रश्न रखे थे। उसी सन्दर्भ को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत प्रसंग का आधार लिया गया है।

महाराज मनु – मानव जाति के आदि पुरुष हैं। वृद्धावस्था में उन्हें ऐसा लगा कि मैंने जीवन में धर्म और मर्यादा का चाहे जितना भी पालन किया हो, पर जीवन का जो चरम लक्ष्य – ईश्वर-प्राप्ति है, वह मुझे अभी नहीं मिली। मुझमें वैराग्य नहीं है, तो भी मैं अनुराग के द्वारा उनकी आराधना करूँगा। यह संकल्प लेकर वे वन की ओर प्रस्थान करते हैं। उनके साथ उनकी पत्नी शतरूपाजी भी हैं। पर वे दोनों पति-पत्नी के रूप में नहीं, एक ऐसे लक्ष्य की ओर साधकों के रूप में वन में जा रहे थे, जिनका उद्देश्य सर्वथा एक जैसे न सही, पर तत्त्वत: लक्ष्य एक ही था। उसमें कुछ थोड़ी भिन्नता भी थी। उस लक्ष्य को लेकर वे नैमिषारण्य में जाने का निर्णय करते हैं, जहाँ गोमती नदी बहती है।

गोस्वामीजी ने उस नदी का नाम गोमती न कहकर यहाँ धेनुमति कहा। धेनुमति नाम प्रचलित नहीं है। उन्होंने यहाँ गो के स्थान पर उसके पर्यायवाची धेनु शब्द का प्रयोग किया है। उनके साधना के सन्दर्भ में यदि क्रम की दृष्टि से विचार करें, तो यह मानव-जाति के लिये साधना का एक क्रम है।

उन्होंने तीर्थ में जाने का जो संकल्प लिया, तो इस पर प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर सर्वत्र नहीं है? ऐसे भी सन्त हुए हैं, जिन्होंने किसी को तीर्थयात्रा के लिये जाते हुए देख कर बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया। कबीर का वह पद आपने सुना होगा। कोई ईश्वर को ढूढ़ने जा रहा है, उससे वे पूछते हैं –

मोको कहाँ तू ढूढ़े वन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मंदिर में ना मस्जिद में ना काबा कैलास में ।।

यह वाणी अपने आप में यथार्थ हो सकती है। यह एक सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापी है और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है, पर यदि कोई तीर्थयात्रा करता है, तो उसका उद्देश्य क्या है? मान लीजिए आप भगवान बद्रीनारायण का दर्शन करने के लिए उत्तराखण्ड की यात्रा करें। पहले यह यात्रा बड़ी कठिन थी और अब सुविधाओं के हो जाने के बाद भी कुछ-न-कुछ कष्ट उठाकर यात्रा करनी पड़ती है। अब पूछा जा सकता है कि भगवान को क्या बद्रीनारायण या अयोध्या या चित्रकूट या रामेश्वरम् में ही पाया सकता है? ऐसा भी नहीं है कि उपरोक्त वाक्य सचमुच ईश्वरीय वाक्य ही हो। फिर ईश्वर ने कहा भी होगा, तो कबीर के ईश्वर ने कहा होगा और उन जैसे लोगों को कहा होगा, सबके लिये नहीं।

ईश्वर बड़ा कौतुकी है। वह जिसे मिलता है, उसे उसके अनुकूल दिशा में प्रेरित कर देता है। इसीलिए आप देखते हैं कि वह किसी को ज्ञान की महिमा बता रहा है, किसी को भक्ति की, किसी को कर्तव्य-कर्म की। जैसे एक योग्य वैद्य या डॉक्टर रोगी के रोग को देखकर उसके लिए उचित दवा की व्यवस्था कर सकता है। किसी से कह सकता है कि तुम पूरा विश्राम करो और किसी से कह सकता है कि तुम रोज चार-पाँच किलोमीटर चला करो। कोई पूछे कि यह विश्राम सत्य है या यह पाँच किलोमीटर चलना सत्य है? इसका उत्तर यही है कि एक के लिये विश्राम ठीक है, तो दूसरे के लिये चलना ठीक है। अत: ऐसे वाक्यों में भ्रमित नहीं होना चाहिये। कई लोग इन पंक्तियों को याद रखकर, बिना सोचे-समझे, अवसर-बेअवसर दुहरा दिया करते हैं।

रामायण में इसका दूसरा रूप मिलता है। जब रावण के अत्याचार से पृथ्वी व्याकुल हुई, उसके संकट का निवारण करने में मुनियों तथा देवताओं ने भी अपनी असमर्थता प्रकट कर दी, तब वे सभी ब्रह्मलोक में जाते हैं। ब्रह्मा भी बोले – रावण की समस्या का समाधान देना तो मेरे लिये भी सम्भव नहीं है, इस समस्या का समाधान तो ईश्वर के द्वारा ही हो सकता है। इसमें भी साधना के क्रम का बड़ा सुन्दर संकेत है। रावण न जाने कितने हजार वर्षों से अत्याचार कर रहा था, पर भगवान ने अवतार नहीं लिया। भगवान ने रावण का विनाश नहीं किया। जब पृथ्वी व्याकुल हुई, तो वहाँ से प्रक्रिया शुरू हुई। यही साधक के जीवन का सत्य है। ईश्वर कब हमारी समस्याओं का समाधान करने के लिए अवतरित होते हैं? कब सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करते हैं? पृथ्वी जब तक रावण का भार उठा सकती थी, जब तक वह बोझ उसे

असह्य नहीं लगा, तब तक अवतार की भूमिका नहीं बनी।

एक पृथ्वी तो यह है, जिस पर आप रह रहे हैं और दूसरी पृथ्वी जिसे 'मानस' में कहा गया – सुन्दर बुद्धि ही भूमि है – **सुमति भूमि**। जैसे आप शरीर से इस स्थूल पृथ्वी पर निवास करते हैं , वैसे ही जीवन की दृष्टि से व्यक्ति बुद्धि में स्थित है। बुद्धि में स्थित रहकर ही समस्त कर्तव्य-कर्मों का निर्वाह करना चाहिए। यह बड़े महत्व का सूत्र है।

पृथ्वी का एक नाम क्षमा है। क्षमा बहुत उत्कृष्ट गुण है, पर बड़े महत्त्व का प्रश्न यह है कि क्या सचमुच बुराइयों का बोझ हमारी बुद्धि को असह्य हो रहा है? हमारी बुद्धि यदि सरलता से बुराइयों को ढो सकती है, वाणी से भले ही कहें कि बड़ा बोझ है, परन्तु व्यवहार से ऐसा लगे कि वह इस जीवन के बोझ में ही प्रसन्न है, तो फिर ईश्वर की कोई जरूरत ही नहीं है। हम लोगों के जीवन का एक विशेष परिचय ही यही है। हम लोगों की सारी क्षमा वृत्ति अपनी बुराइयों को ही क्षमा करने में ही लगी हुई है, दूसरों को हम भले ही क्षमा न करते हों। मूल सूत्र यह है कि बुराइयों को मिटाने की व्यग्रता हममें है क्या? यदि बुराई की स्थिति आपके लिये असह्य नहीं है, यदि आपको यह अनुभव नहीं हो रहा कि बुराई हमारे जीवन से मिट जाय, यदि आप अनगिनत लोगों के समान उसी में सन्तुष्ट हैं, तो फिर आपको ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोग परम्परागत रूप से ईश्वर को मान सकते हैं या ईश्वर की चर्चा कर सकते हैं, परन्तु वस्तुतः उन्हें सही अर्थों में ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता और इसे अनेक प्रसंगों के माध्यम से प्रगट किया गया है।

विभीषण भगवान राम की शरण में गये। पर भगवान का अवतार तो बहुत पहले ही हो चुका था और विभीषण शुरू में ही भक्ति का वरदान माँग चुके थे। विभीषण के जीवन में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वे लंका में रहते हुए भी पूजा करते थे, साधन करते थे, लेकिन उनके जीवन में शरणागति नहीं आई। तात्पर्य यह कि उन्होंने भले ही भक्ति की याचना कर ली हो, पर रावण के साथ रहना उन्हें सह्य था। और यही हम लोगों के भी जीवन का सत्य है। बुराइयों के साथ हम भलीभाँति रह रहे हैं। अच्छा-खासा समझौता है और उसी में हम अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। विभीषण भले थे, परन्तु भले होते हुए भी यदि बुराइयों के साथ रह सकते थे, तो रह रहे थे। ठीक है। मन्दिर में पूजा भी कर लेते थे। उनकी साधना का एक स्थूल क्रम था।

लेकिन उनकी शरणागति में एक क्रम दिखाई देता है। रावण द्वारा सीताजी का हरण होने पर विभीषणजी को यह ज्ञात हो चुका है कि सीताजी हरण करके लंका में लाई गई हैं और उन्हें यह भी ज्ञात है कि सीताजी को अशोक-वाटिका में बन्दी बनाकर रखा गया है। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी पता है कि अशोक-वाटिका में कैसे पहुँचा जा सकता है, लेकिन उन्होंने रावण के कार्य का विरोध नहीं किया। उन्होंने सीताजी के दर्शन का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। उसी लंका में सीताजी हैं, वहाँ पहुँचने का मार्ग उनको पता है, पर वे कभी सीताजी का दर्शन करने नहीं गये।

यह एक बहुत बड़ा संकेत है। उन्होंने अपने अंतःकरण में भले ही मान लिया हो कि यह कार्य तो बुरा है, पर तो भी क्या? कुम्भकर्ण ने भी तो बाद में रावण को बहुत फटकारा। रावण ने कुम्भकर्ण को ज्योंही जगाया, तो उसने कठोरतम शब्दों में रावण की भर्त्सना की। कुम्भकर्ण को सीताजी के हरण का समाचार का ज्ञान नहीं था। वह तो छह महीने से सो रहा था। उसे मालूम नहीं था कि रावण सीताजी का हरण करके लाया हुआ था। उसने भी जागने पर विरोध किया। पर विभीषण तो जाग रहे थे और विरोध कर सकते थे, लेकिन कहीं भी उनके ऐसे किसी विरोध का वर्णन नहीं आता।

रावण विभीषण के प्रति बड़ा सद्व्यवहार दिखाता है। अन्य लोगों के प्रति वह कठोर है, पर विभीषण के प्रति बड़ा उदार दिखाई देता है। व्यक्ति कभी-कभी यह मान लेता है कि भले ही वह बुरा है, पर मेरे लिए तो बुरा नहीं है। कभी-कभी जाति के आधार पर भी बुराई में बँटवारा होता है। बुरा तो है, पर मेरी जाति के लिए नहीं है। बुरा तो है, पर मेरे परिवार के लिये बुरा नहीं है। समाज में यह वृत्ति दिखाई देती है। यही वृत्ति विभीषण के जीवन में भी है। उस स्थिति में रहते हुए उन्होंने कितना पहले भक्ति का वरदान माँग लिया था। ब्रह्मा और शिवजी ने जब उनसे वरदान माँगने को कहा, तो उन्होंने भगवान के चरण-कमलों में विशुद्ध प्रेम माँगा –

गए बिभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर मागु।
तेहिं मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥ १/१७७

यह वरदान माँग लेने के बाद भी क्रिया के रूप में क्या विभीषण का भक्त का जीवन दिखता है। उनकी आलोचना को आप निन्दा के रूप में न ले, इन्द्र की आलोचना करने मे हम लोग अपनी तुलना में इन्द्र की आलोचना न करें। वे तो बहुत बड़े पुण्यपुंज हैं, लेकिन जब उच्च मापदण्ड की दृष्टि से देखते हैं, तो उनमें भी न्यूनता दिखाई देती है। विभीषण भी लंका में रहकर क्रियात्मक रूप से साधना कर रहे थे, यह कोई साधारण बात नहीं थी। श्रीहनुमानजी को यह आश्चर्य हो गया था कि इस राक्षसों की नगरी में रहकर कोई पूजा करे, भक्ति करे, यह भला कैसे सम्भव है?

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥ ५/६/१

स्वयं भगवान राम ने विभीषण से मिलने पर यही कहा –

बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥ ५/४६/७

इतनी बुराइयों के बीच में रहकर भी वे जितना साधन कर लेते थे, वह स्वयं में बहुत बड़ी बात है। परन्तु उतने मात्र से भगवान की शरणागति नहीं होती। उन्होंने अपने जीवन को साधनामय बनाने की चेष्टा तो की, पर उसका क्रम क्या है? रावण के द्वारा सीताजी का हरण किए जाने पर उनको निश्चित रूप से बड़ा कष्ट हुआ होगा। पर वे स्वयं कुछ करने में असमर्थ हैं। उनके जीवन में क्रमशः यही भूमिका आती है।

हनुमानजी का लंका में आगमन, बहिरंग दृष्टि से सीताजी का पता लगाने के लिए हुआ था, पर भगवान का आन्तरिक उद्देश्य मानो यह था कि लंका में रहनेवाला वह व्यक्ति किसी तरह शरणागति के मार्ग में अग्रसर हो। रामायण में सर्वत्र – एक-एक पंक्ति में, एक-एक चरित्र में, एक-एक वाक्य में साधना का अनोखा तत्त्व छिपा हुआ है। हनुमानजी देहाभिमान से ऊपर उठे हुए हैं और इसी कारण उस देहाभिमान के समुद्र को पार करने में सक्षम हुए। उन्होंने समस्त विघ्न-बाधाओं को पार कर लिया और लंका के हर घर में जाकर सीताजी को खोजते हैं, पर उन महानतम हनुमानजी को भी सीताजी नहीं मिलीं। उनको भी वहाँ जो उपलब्धि होती है, वह असमर्थता के अनुभूति के बाद ही होती है। उनमें इतनी साधना है, इतने ऊपर उठे हुए हैं! हनुमानजी बड़े बन सकते हैं, छोटे बन सकते हैं। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग – सभी मार्गों की परिपूर्णता रामायण के जिन कुछ पात्रों में है, उनमें से एक हनुमानजी हैं। उनके जीवन में कहीं आपको कर्मयोग के तत्त्व मिलेंगे, कहीं ज्ञानयोग के, कहीं भक्तियोग के, पर इतने सक्षम साधना के तत्त्व जिनके जीवन में प्रगट हैं, वे हनुमानजी भी सीताजी को खोजने में समर्थ नहीं है।

मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा ।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ।।
गयउ दसानन मंदिर माहीं ।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ।।
सयन किएँ देखा कपि तेही ।
मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ।। ५/५/५-७

अद्भुत बात है! उन्होंने लंका का हर कोना देख लिया, पर मूर्तिमान भक्ति – सीताजी की प्राप्ति नहीं हुई। भक्ति को पाना कितना सरल, पर कितना कठिन है! कठिन इसलिये कि इतने बड़े महापुरुष भी पता नहीं लगा सके। तभी एक अनोखी बात हुई। लंका में दो अनोखे पात्रों का मिलन हुआ।

सीताजी को खोजते-खोजते हनुमानजी असमर्थ हो चुके हैं, उन्हें वे कहीं भी दिखाई नहीं देतीं। दूसरी ओर विभीषण को ज्ञात है कि सीताजी कहाँ हैं, पर वे आज तक गये नहीं। बड़ा विचित्र दृश्य था। एक तो वे हैं, जो इतनी दूर से ढूढ़ने के लिये आए हैं और दर्शन पाने को व्यग्र है; और दूसरे वे हैं, जो जानते हुए भी उनका साक्षात्कार नहीं कर पा रहे हैं। तभी दोनों का मिलन होता है। विभीषण और श्रीहनुमान – दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति महान् आदर है। यही उनके महापुरुषत्व की विशेषता है। हनुमानजी निरन्तर यह अनुभव करते रहे कि यदि विभीषण जैसे सन्त की कृपा न हुई होती, तो लंका में हम साधन और प्रयत्न के द्वारा भी सीताजी को नहीं पा सकते थे। क्योंकि रामायण का एक सिद्धान्त है कि भगवान की भक्ति या तो भगवान की कृपा से प्राप्त होती है और नहीं तो सन्त की अनुकूलता से –

भगति तात अनुपम सुखमूला ।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ।। ३/१५/४

जब कहा गया कि भगवान की कृपा से होती है, तो व्याख्या में कह दिया गया कि भगवान की कृपा एक दूसरे रूप में भी होती है – जब भगवान किसी पर कृपा करते हैं तो किसी साधु को भेज देते हैं, साधु से मिला देते हैं –

जब द्रवहि दीनदयालु राघव साधु संगत पाइए ।।

हनुमानजी जैसे महापुरुष के द्वारा भी हमें यही शिक्षा दी गई। उन्हें भी भक्ति अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से नहीं मिली। वे अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ के द्वारा बहुत बड़े महान-से-महान कार्य करते हैं। प्रलोभन की वृत्तियों को जीत लेते हैं, ईर्ष्या की वृत्ति को जीत लेते हैं, लोकेषणा की वृत्ति को जीत लेते हैं। इतना सब होते हुए भी वे निराश हैं। उनकी वह ऐसी निराशा नहीं है, जो व्यक्ति को एकदम अधोगामी बना देती है। हनुमानजी को असमर्थता का बोध होता है और तभी उन्हें विभीषण का घर दिखाई देता है। उस भवन को देखकर हनुमानजी आश्चर्यचकित हो गये। उसी के बगल में एक हरि-मन्दिर बना हुआ था, जिसके आसपास तुलसी के पौधे, पुष्प खिले हुए हैं। हनुमानजी चकित होकर सोचने लगे – लंका तो राक्षसों की नगरी है, इसमें कोई सज्जन कैसे रह सकता है? तभी एक कौतुक हुआ – विभीषण जाग उठे –

लंका निसिचर निकर निवासा ।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ।।
मन महुँ तरक करैं कपि लागा ।
तेहीं समय बिभीषनु जागा ।। ५/६/१-२

विभीषण तो नित्य ही जागते थे, परन्तु उनके नित्य के जागने में और आज के जागने में अन्तर है। वह अन्तर यह था कि आज जागने पर जब द्वार खोला, तो सामने हनुमानजी का दर्शन हुआ। आध्यात्मिक भाषा में जागने की क्या परिभाषा दी गयी है? – जब किसी जीव में वैराग्य का उदय हो जाय, तब समझ लीजिए वह जाग गया है –

जानिअ तबहिं जीव जग जागा ।

जब सब बिषय बिलास बिरागा ।। २/९३/४

हनुमानजी की एक आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है – वे प्रबल वैराग्य हैं। मानो लंका-निवासी विभीषण का वह जागरण

तब होता है, जब वैराग्य उनके सामने था। उधर वैराग्य और इधर विभीषण की छोटी-सी मगर कितनी महान् साधना! हनुमानजी के तर्क का उत्तर क्या हो सकता है? हनुमानजी सोच सकते हैं कि नहीं, यह कैसे हो सकता है संत? और वहाँ शब्द लिखा हुआ है। विभीषण के मुख से सुबह उठते ही 'राम-राम' यह शब्द निकला और हनुमानजी के कानों में पड़ा। और हनुमानजी समझ गये कि यह कोई सज्जन है –

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा ।
हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा ।। ५/६/३

बड़ा अटपटा लगता है। यदि रामनाम बोलना ही सज्जनता है, तब इतने लोग 'राम-राम' बोलते हुए दिखाई देते हैं! परन्तु रामनाम के स्मरण में भी भिन्नता होती है। एक आप मन्दिर में दर्शन करने के लिये जायेंगे और दूसरी ओर एक साधक या भावुक भक्त जायेगा, तो दोनों में बड़ा अन्तर होगा। एक व्यक्ति के सामने केवल मूर्ति का रूप-रंग होगा, तो दूसरा व्यक्ति वहाँ जाकर शक्ति की चैतन्यता के प्रवाह का अनुभव करता है। भक्त का स्मरण केवल जिह्वा से नहीं होता, वे तो बड़े अनुराग से प्रभु का नाम लेते है। भरतजी श्रीराम का स्मरण करते हैं, तो किसी स्तोत्र का पाठ नहीं, किसी ग्रन्थ का पारायण नहीं, केवल दो अक्षर का राम-नाम लेकर जब लम्बी साँस लेते हैं, तो मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है। उनके शब्दों को सुनकर पत्थर भी पिघल जाते हैं।

जबहि रामु कहि लेहिं उसासा ।
उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा ।।
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना ।। २/२२०/६-७

क्या लंका में कोई व्यक्ति इतने अनुराग से श्रीराम का नाम ले सकता है? हनुमानजी का हृदय भावुक है, वे परम पवित्र हैं, सोचते हैं – अरे, ऐसा उच्चारण तो केवल भक्त के द्वारा ही होता है। हनुमानजी अब तक सर्वत्र अपने को छिपा रहे थे, परन्तु उन्होंने निर्णय किया कि इनसे हम अवश्य मिलेंगे। मगर यदि ये ही न मिलना चाहें तो? हनुमानजी बोले – हम तो इनसे बलपूर्वक और हठपूर्वक मिलेंगे, क्योंकि सज्जन व्यक्ति से काम बिगड़ता नहीं है –

एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी ।
साधु ते होइ न कारज हानी ।। ५/६/४

सज्जन कभी न मिलना चाहे, तो भी बहुत प्रयत्न करके उनसे मिल ही लेना चाहिए, क्योंकि सज्जनों के द्वारा सर्वदा सही दिशा ही मिलती है। हनुमानजी ने भी इधर से राम-नाम का स्मरण किया। दोनों ओर से बहुत भावना और प्रेम से किया गया स्मरण, दोनों को यह राम-नाम ही एक दूसरे से मिला देता है। इसके बाद आप क्रम देखेंगे – विभीषण तथा हनुमानजी के बीच में संवाद होता है, उसमें विभीषण के मन में जो थोड़ी ग्रन्थियाँ थीं, जो समस्याएँ थी, वे दूर हो गयीं। सत्संग का उद्देश्य यही होता है। यदि हम अपनी किसी मानसिक स्थिति के कारण भगवान की दिशा में नहीं बढ़ पा रहे हैं, तो साधु-सन्त उसका सामाधान दे देते हैं। विभीषण के मन में यह ग्रन्थि थी कि मेरा जन्म तो राक्षस जाति में हुआ है; कुछ भी हो, मैं हूँ तो रावण का भाई ही न। इतने दिनों तक मैं रावण के कार्यों को चुपचाप देखता रहा। सीताजी का हरण करने पर भी मैंने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया। अब कौन-सा मुँह लेकर मैं भगवान के पास जाऊँ? सन्त के द्वारा इस ग्रन्थि का निराकरण कर दिया गया।

दोनों का मिलन हुआ और बड़ा सुन्दर संवाद हुआ। विभीषणजी ने हनुमानजी से पूछा – आप कौन है?

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई ।
मोरें हृदय प्रीति अति होई ।।
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी ।
आयहु मोहि करन बड़भागी ।। ५/६/७-८

कहीं आप प्रभु ही तो नहीं हैं, जो इस दीन पर कृपा करने स्वयं पधारे हैं। उन्होंने हनुमानजी ने उनका परिचय पूछा, पर उन्होंने अपना परिचय नहीं, रामकथा बतायी –

तब हनुमंत कही सब, राम कथा ... ।। ५/६

याद रखिए, व्यक्ति-कथा विवाद की सृष्टि करती है और रामकथा संवाद की। अन्यत्र जहाँ जो कुछ भी है, विवाद-ही -विवाद है, पर रामकथा सबको जोड़नेवाली चीज है। हनुमानजी ने रामकथा सुनाई। इसके बाद विभीषणजी ने अपने मन की भय और चिन्ता सुना दी। उन्होंने कहा – मेरा राक्षस जाति में जन्म हुआ है और प्रत्यक्ष रूप से मैं पाप न भी करूँ, पर पाप में सहयोगी तो हूँ ही। पाप के द्वारा प्राप्त वस्तुओं के द्वारा भोग भी कर रहा हूँ। क्या भगवान मुझे स्वीकार करेंगे?

सत्संग का उद्देश्य व्यक्ति को इस हताशा की स्थिति से निकाल देना है। तब हनुमानजी ने कहा, "विभीषण, मैं तो कल्पना भी नहीं करता था कि मुझे देखने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है।" कितनी बढ़िया बात है। ये जो भगवान के विविध रूपों में अवतार होते हैं, व्यक्ति को आश्वासन देने के लिए होते हैं। हनुमानजी बोले, "तुम तो विश्रवा मुनि के पुत्र हो, पुलस्त्य के नाती हो। दूसरी ओर मैं बन्दर हूँ। बन्दर को तो तुम जानते हो। पशुओं में बन्दर सबसे बुरा होता है – महान् चंचल, कामी, क्रोधी, लोभी सब दोषों से युक्त! मेरी स्थिति तो यह है कि सबेरे-सबेरे जो मेरा नाम ले ले, उसे दिन भर भोजन ही न मिले –

प्रात लेइ जो नाम हमारा ।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ।। ५/७/८

जो लोग हनुमानजी के वाक्य और रामायण के चौपाई पर पूरा विश्वास करते हों और इसलिए उन्होंने हनुमानजी का नाम लेना बन्द कर दिया हो, तो उनके लिए लिये मैं क्या कह

सकता हूँ ! आप यदि हनुमानजी की बात पर विश्वास न करें, तभी ठीक है, क्योंकि यह तो सन्त की विनम्रता है, उनका शील है। उनको लगता है – मेरा भी नाम कोई लेने योग्य है? नाम तो प्रभु का ही लेना चाहिये। मेरे भी रूप कोई देखने योग्य है? ध्यान करने योग्य तो प्रभु का ही रूप है। हनुमानजी को स्मरण हो आया, प्रभु मुझसे कितना प्रेम करते हैं, मुझ पर उनकी कितनी कृपा है, कितनी करुणा है, कितना वात्सल्य है ! स्मरण करते-करते हनुमानजी के आँखों में आँसू आ गए। प्राण गद्गद हो गये।

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ।। ७/७

इसके बाद उन्होंने कहा – विभीषण, ये जीव के बहाने है कि भगवान उस पर कृपा करेंगे या नहीं, यदि वे मुझ पर कृपा कर सकते हैं, तो दूसरों पर क्यो नहीं !

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी ।
फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ।। ७/८/१

ऐसे भगवान को जानने के बाद भी जो लोग उसे भूले हुए हैं, वे दुखी हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है। इस कथा का क्या फल हुआ? ऐसी अवर्णनीय स्थिति आई कि हनुमानजी को भी विश्राम की अनुभूति हुई और विभीषण को भी –

एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा ।
पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा ।। ५/८/२

हनुमानजी यही कहते हुए लंका आए हुए थे कि रामकाज किये बिना मैं भला कैसे विश्राम ले सकता हूँ –

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ।। ५/१

उन्होंने स्वर्ण पर्वत का विश्राम स्वीकार नहीं किया, पर रामकथा का विश्राम तो साधक के लिए सर्वदा ही हितकर है। पर विभीषणजी इसके बाद भी शरणागत नहीं हो पाए। कितना कठिन है ! कथा सुन लिया, प्रभावित हुए, मन में जो थोड़ी भय-आशंका थी, दूर हुई, पर क्या वे तत्काल भगवान की शरण में जाने का निर्णय ले पाये? अब भी मन में कुछ वृत्तियाँ बची हैं, जिन्हें आप क्रमश: देखेंगे। जब हनुमानजी पकड़कर सभा में लाए गये और रावण बोला – बन्दर को मार डालो, तो विभीषण को लगा कि इन्हें बचाना मेरा कर्तव्य है। यही वृत्ति लेकर वे आए और उन्होंने रावण से कहा – आप राजा हैं, राजनीति के पण्डित हैं और यह कार्य – दूत को मारना राजनीति के विरुद्ध है –

नीति बिरोध न मारिअ दूता ।। ५/२४/७

रावण बोला – तुम ठीक कहते हो। मैं इस बन्दर को मृत्यु-दण्ड नहीं दूँगा। हनुमानजी तो सारा दृश्य देख रहे थे। उन्होंने सोचा – अरे, मैंने जितनी कथा सुनाई, सब गड़बड़ होने जा रहा है। कैसे? बोले – जब रावण ने विभीषण की बात मान ली, तो विभीषण के मन में रावण के प्रति फिर गुण बुद्धि का उदय हुआ। दो बातें आईं कि चलो, मेरे कहने से हनुमानजी बच गये, नहीं तो रावण उन्हें मार ही डालता। दूसरी बात यह आई कि रावण इतना सहिष्णु तो है ही कि जिसने पुत्र का वध किया है, बाग को उजाड़ दिया, राक्षसों को मार दिया, उसको मेरे कहने पर छोड़ दिया, मारा नहीं, मृत्यु-दण्ड नहीं दे रहा है, रावण निश्चित रूप से मेरे प्रति अत्यधिक अनुराग करता है। **जब यह भ्रान्ति उदित होती है, जब दोष में गुण दिखाई दे, तो समझ लीजिए कि साधक के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई समस्या नहीं है।** दोष को तो दोष के रूप में ही देखना चाहिए।

पुराणों में ऐसे बहुत-से प्रसंग आते हैं, जहाँ किसी को किसी बड़े व्यक्ति में अच्छाई दिखाई देगी, पर कोई ऐसी घटना होगी, जिससे उस बुरे व्यक्ति का बुरा रूप ही प्रकट होगा। जैसे कंस ने देवकी और वसुदेव के द्वारा पहला पुत्र अर्पित किए जाने पर, उसे मारा नहीं, लौटा दिया। मैं इसका वध क्यों करूँ? मुझे तो आठवें से संकट है। तो उधर उसे लेकर वसुदेवजी चले और इधर नारदजी आ पहुँचे। नारदजी ने पूछा – तुमने लौटा क्यों दिया। वह बोला – मुझे तो आठवें से भय है, मैं व्यर्थ ही सात पुत्र की हत्या क्यों करूँ?

अब नारदजी ने जो कार्य किया, वह तो बड़ा भयानक लगता है। उन्होंने एक कमल लिया और पूछा – इसमें आठ पंखुड़ियाँ हैं, बताओ, इनमें आठवाँ कौन-सा हैं। कंस जिधर बैठा हुआ था, उधर से गिनकर बताया कि आठवाँ यह है। नारदजी ने अपनी ओर से गिना, तो आठवाँ उधर। वे बोले – आकाशवाणी ने जो आठवाँ कहा है, क्या पता कहाँ से गिना है? सम्भव है पहला ही आठवाँ हो। उसने कहा – महाराज, आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। वसुदेव को बुलाओ।

बड़ा विचित्र लगता है कि कंस तो दया करने जा रहा है और इतने बड़े उदार सन्त उसे हिंसा की शिक्षा दे रहे हैं। कंस ने सचमुच ही वसुदेव को बुलाकर उनके पुत्र का वध भी कर दिया। उसका तात्त्विक पक्ष यह है कि भगवान के जन्म के पूर्व जीवन में जो सद्गुण जन्म लेते हैं, वे स्थायी नहीं होते, नष्ट हो जाते हैं। बाद में भगवान इन पुत्रों को जीवनदान देते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर के जन्म लेने के बाद हमारे जीवन मे जो सद्गुण आते हैं, वे स्थायी होते हैं। इसका उद्देश्य यह था कि यदि देवकी तथा वसुदेव के मन में यह भाव आ जाय कि कंस बड़ा उदार है, बड़ा सहिष्णु है, तब तो यह भाव ईश्वर को अवतरित ही नहीं होने देगा। यदि हम क्षमा कर सकते हैं, वसुदेव-देवकी क्षमा कर सकते हैं, तो क्या ईश्वर क्षमा नहीं कर सकते? ईश्वर तो कहते हैं कि क्षमा करो और हमसे भी क्षमा ले लो। अत: वास्तविकता के कठोर लगने पर भी नारदजी ने उसे उसी दिशा में प्रेरित किया। हमारे जीवन में होता यह है कि बुराइयाँ होते हुए भी

उनमें हम कोई-न-कोई अच्छाई ढूँढ़ लेंगे। क्रोध है, पर उसमें एक अच्छाई भी है; काम है, पर उसके बिना काम भी तो नही चलता। हर बुराई में हम कोई-न-कोई विशेषता खोज ही लेते हैं। यह साधक के लिये अत्यन्त घातक है।

विभीषण को रावण के प्रति सहिष्णु होते देखकर हनुमानजी चिन्तित होने लगे। उन्होंने सोचा – अब तो झगड़ा लगाना होगा। सन्त तो मिलाते हैं, पर हनुमानजी ने झगड़ा लगाने का काम किया। जब हनुमानजी की पूँछ में आग लगा दी गई, तो उन्होंने सारी लंका तो जला दी, पर केवल विभीषणजी का घर छोड़ दिया। यह बड़ी ऊँची योजना थी। वे जो चाहते थे, वही हुआ। जब रावण को समाचार मिला कि विभीषण का भवन छोड़ बाकी सब जल गया है, तब रावण व्याख्या करने लगा कि जब मैं बन्दर को मारने लगा, तो विभीषण ने रोका और जब बन्दर ने लंका जलाया तो, विभीषण का घर छोड़ दिया। तो फिर दोनों जरूर ही भीतर से मिले हुए हैं। हनुमानजी यही तो चाहते थे। बुरे और भले व्यक्ति को अलग कर देना बहुत बड़ा गुण है। रावण ने अपने मन में विभीषण के लिए घोर क्रोध पाल लिया। उस समय तो वह कुछ कह नहीं सकता था, क्योंकि निर्णय तो उसी ने लिया था।

लेकिन इसके बावजूद विभीषण शरणागत नहीं हो सके। हनुमानजी चले गये, पर विभीषण यह भ्रान्ति पाले रहे कि रावण ने मेरे कहने से हनुमानजी को कम-से-कम मृत्यु-दण्ड तो नहीं दिया। तो उनके मन में शरणागति की वृत्ति पूरी तौर से कब उदित होती है? जब विभीषण के मन में आया कि मेरे कहने से इन्होंने हनुमानजी का मृत्युदण्ड वापस ले लिया, तो क्यों न सीताजी को लौटाने की बात कहकर रावण का कल्याण करूँ। **साधकों को भी दूसरों के कल्याण करने की वृत्ति से भी बचना चाहिए।** ऐसे व्यक्ति का कल्याण, कि जिसका कल्याण तो आप कर न सकें, उल्टे स्वयं भी संकटों में घिर जायँ। कल्याण करने की तीव्र भावना आई, तो लगे रावण की सभा में उपदेश देने। रावण तो पहले से ही जला-भुना बैठा था, सोचने लगा – "अच्छा, तो अब मुझे उपदेश दे रहा है, भाषण देकर समझा रहा है?" तब रावण ने प्रहार करते हुए कहा – अब तक मैं चुप था, पर क्या मैं नहीं जानता कि मेरे नगर में रहकर भी तू उन दोनों तपस्वियों से प्रेम करता है? इसीलिए तुमने बन्दर को बचाने की चेष्टा की थी। मैं नहीं चाहता कि तुम जैसा व्यक्ति यहाँ रहे। अरे दुष्ट, तू यहाँ से चला जा, अपनी राजनीति उन्ही को सुना –

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।
सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती।। ५/४१/५

कभी-कभी बड़ी प्रतिकूलता के रूप में भगवान की कृपा होती है। रावण यह भी कह सकता था कि मेरे शत्रु से मिला हुआ है, इसे कारागृह में डाल दो या वध कर दो। पर प्रभु का कौतुक बड़ा विचित्र है! उन्होंने रावण का मन ऐसा फेर दिया कि उसने विभीषण को लंका से निष्कासित कर दिया। वैसे तो रावण का यह कार्य राजनीति के विरुद्ध लगता है कि शत्रुपक्ष से मिला हुआ जानकर भी उसे चले जाने को छोड़ दिया, पर रावण के मस्तिष्क में यह बात आ गई थी कि यदि मैंने विभीषण की नीति मानकर हनुमान को मृत्युदण्ड नहीं दिया। इसी की नीति मानने से मेरी लंका जली। ऐसी ही कोई राजनीति जब यह उस राजकुमार को बतायेगा, तो उसका भी सर्वनाश ही होगा, इसलिये इसे जरूर भेजो।

अत: जब विभीषण जाने लगे, तो बिल्कुल नहीं रोका। बल्कि उसके पीछे दो गुप्तचरों को लगा दिया। लौटकर उन गुप्तचरों ने कहा – महाराज, अभी तो श्रीराम आपके भाई की सलाह मानकर समुद्र के किनारे अनसन कर रहे हैं और समुद्र से मार्ग माँग रहे हैं। सुनकर रावण खूब हँसा, सोचने लगा – मैं कितना दूरदर्शी हूँ, जानता हूँ कि क्या होनेवाला है, चलो, वहाँ गया तो युद्ध छोड़कर उनसे अनसन करा रहा है, उपवास करा रहा है। लिखा हुआ है – सुक-सारन बोले – देखिए, आपने जिसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा, प्रभु ने उस पर कितना विश्वास किया, उससे सम्मति माँगी। इतना ही नहीं, अपने भाई की बात को न मानकर आपके भाई की बात मानी। वे इतने कृपालु हैं कि समुद्र से मार्ग माँग रहे हैं।

सक सर एक सोषि सत सागर।
तव भ्रातहि पूँछेउ नय नागर।।
तासु बचन सुनि सागर पाहीं।
मागत पंथ कृपा मन माहीं।। ५/५६/२-३

सुनते ही रावण खूब हँसा, बोला – बन्दर की सेना लेकर आया है और बुद्धि ऐसी है, उस कायर विभीषण को जो जीवन भर डर के मारे काँपते रहा, उसको मंत्री बना लिया –

सुनत बचन बिहसा दससीसा।
जौं असि मति सहाय कृत कीसा।।
सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई।
सागर सन ठानी मचलाई।।
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।
रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई।।
सचिव सभीत बिभीषन जाकें।
बिजय बिभूति कहाँ जग ताकें।। ५/५६/४-७

विभीषण जैसे व्यक्ति को मंत्री बनाकर क्या कोई विजयी हो सकता है? पर यही प्रभु की महती अनुकम्पा है, क्योंकि विभीषण को रावण द्वारा लात मरवाने का कार्य भी प्रभु ने ही किया। कहने में थोड़ा संकोच-सा लगता है, भगवान विभीषण की छाती पर लात मारने के लिए रावण को प्रेरित करें? पर प्रभु को तो बुलाना है, जब साधक सीधे नहीं आया, सत्संग से भी नहीं आया, तो प्रभु ने प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करके उसे अपनी ओर खींच लिया। ❖ **(क्रमश:)** ❖

बाल्यबन्धु से भेद

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी की दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और अनेक संस्मरणों का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें उनके धर्मभाई श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई है। इन रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

काठी बाला राउत कभी अच्छा सम्पन्न व्यक्ति था। उसका घर – **दीयतां भुज्यताम्** – की आवाज से मुखरित रहा करता था। परन्तु आय की अपेक्षा व्यय अधिक होने के कारण क्रमशः वह ऋणग्रस्त हो गया। इसके बाद मात्र थोड़ी-सी जमीन की आय पर ही उसके परिवार का गुजारा चलने लगा। वैसे मोटे अन्न-वस्त्र का उसे अभाव न था, परन्तु उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी।

रुपयों के अभाव में वह अपने इकलौते पुत्र का विवाह नहीं कर पा रहा था। कन्या के पिता ने विवाह के लिये दबाव डालना आरम्भ कर दिया था, क्योंकि कन्या वयस्क हो रही थी। परन्तु बाला राउत कहता, "लड़की थोड़ी बड़ी हो जाने से ही तो ठीक रहेगा। इतनी जल्दबाजी की क्या जरूरत है? मेरा लड़का तो अभी केवल बीस वर्ष का किशोर है।" वह ऐसे नित्य नये बहाने बना-बनाकर लड़की वालों को रोके रहने का प्रयास करता आया था, परन्तु अब वे लोग कोई भी बात सुनने को राजी न थे। बाला राउत को अपनी मर्यादा बचाने के दायित्व का भी तो ध्यान रखना था। अब क्या हो? इस दशा में किसके पास से इतने रुपयों की व्यवस्था हो?

"क्या अपनी मर्यादा को लेकर बैठे रहोगे? तुम्हारे इतने बन्धु-बान्धव हैं, जाकर देखो, यदि कोई हजार रुपये दे दे। यदि समय पर उस कर्ज करो चुका न सको, तो मेरा मानिक धीरे-धीरे सूद के साथ उसकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा!"

जीवन में बाला राउत ने अपनी स्त्री के मुख से ऐसी ठेस देनेवाली बात कभी सुनी नहीं थी। इस कारण उसे बड़ा दुःख हुआ। हुक्के से तम्बाकू पीते हुए वह सोचने लगा – किसके पास से उधार मिल सकता है, जिससे स्वाभिमान भी बचा रहे और काम भी हो जाय? उसे अपने बाल्यबन्धु भूधर अहीर की याद आयी। भूधर के ऊपर माँ-लक्ष्मी की बड़ी कृपा थी। जो सोचा, वही किया – बाला राउत घोड़े पर सवार होकर भूधर के घर जा पहुँचा। पर उसके दुर्भाग्य से उस समय भूधर घर पर नहीं था – किसी कार्यवश कुछ दिनों के लिये दूसरे गाँव गया हुआ था। हताश होकर बाला राउत घर वापस लौटने लगा, परन्तु भूधर की स्त्री ने उसे कैसे भी नहीं छोड़ा, बोली – एक रात विश्राम और साग-रोटी खाये बिना चले आने पर उसे बड़ा दुःख होगा। बाला राउत अपने मन की बात मन में ही रखकर निराश भाव से उस रात वहीं ठहर गया।

सुबह साग-रोटी खाते समय वह अहीरिन की ओर उन्मुख होकर बोला, "मैं आया था थोड़े-से ... यही कोई हजार रुपये उधार लेने के लिये। लड़के की शादी करनी है। लड़की बड़ी हो गयी है, उसके माँ-बाप अब देरी करने को राजी नहीं हैं। इधर हाथ खाली है, इसीलिये ....।"

"रुपये का लेनदेन तो वे ही करते है, इसलिये उन्हीं से इस विषय में बात करना अच्छा रहेगा।" इतना कहकर अहीरिन ने उस बात को वहीं काट दिया।

बाला राउत खाली हाथ और भारी मन लिये घर लौट आया। उसके बाद उसने अपनी जो थोड़ी-सी जमीन थी, उसे एक बनिये के यहाँ बन्धक रखकर पुत्र का विवाह कर दिया। पर इस विवाह समारोह में उसका अहीर मित्र नहीं आया था।

विवाह के बाद लड़का तो अपने रसरंग में ही डूब गया। घर के अभाव की बात तो उसके मन में उठती ही न थी। परन्तु कालचक्र की गति किसी भी कारण से रुद्ध नहीं होती, अतः बाला राउत के दिन भी बीतने लगे।

– २ –

इधर राउत के चले जाने के बाद अहीरीन कमरे से हार लेने गयी, तो उसे वहाँ से गायब देखकर उसे बाला राउत पर सन्देह हुआ। उसने राउत को विश्राम करने के लिये जो कमरा दिया था, हार उसी में एक खुले बक्से में रखा हुआ था। वह हर रात हार को खोलकर उस बक्से में रख देती और सुबह फिर पहन लेती थी। (हार की कीमत हजार रुपये से भी अधिक थी।) उसने नौकर को भी धमका कर देखा, पर वह सौगन्ध खाकर कहने लगा, "ऐसा कार्य वह किसी भी हालत में नहीं कर सकता – यदि किया हो, तो मेरा सर्वनाश हो जाय।" अतः उसका सन्देह और भी दृढ़ हो गया कि अवश्य अभावग्रस्त बाला राउत ने ही वह कार्य किया है। कुछ दिनों बाद पति भूधर के घर लौटने पर उसने सारी बातें उससे कही। वह भी अपनी पत्नी की बात से सहमत हुआ, "मेरे मित्र ने अत्यन्त अभावग्रस्त होने के कारण ही ऐसा कार्य कर डाला है।" उसने सोचा कि राउत के लड़के का विवाह हो जाने के बाद ही कोई युक्ति करके इस प्रसंग को उठाया जायेगा। अतः थोड़े दिन वह चुप रहा।

– ३ –

काफी काल पूर्व, जब बाला राउत की आर्थिक दशा ठीक थी, उस समय उसने अपने एक मित्र को कुछ रुपये उधार

दिये थे। अब इतने दिनों बाद उसके चुका देने से जमीन भी छुड़ा ली गयी थी और हाथ में भी कुछ रुपये बच गये थे। इसीलिये अब वह निश्चिन्त हो गया था। इन रुपयों की बात पहले भी याद होने के बावजूद वह यह सोचकर मित्र के सामने मुख खोलकर बोल नहीं सका था कि "यदि उसके पास होता, तो मेरे इस भयानक अभाव के बारे में जानकर भी, क्या वह स्वयं नहीं दे जाता!"

ठीक तभी उसके अहीर मित्र का पत्र आया। किसी शुभ संवाद की आशा में उसने जल्दी से उसे खोलकर देखा। लिखा था, "तुम्हारे लड़के का विवाह तो भलीभाँति सम्पन्न हो गया है। अब यदि हार को लौटा दो, तो मैं बड़ा आभारी होऊँगा। लड़के की माँ का हार था। वह उसके लिये बड़ी परेशान है।" आदि, आदि।

बाला राउत पर तो मानो सहसा बिन बादल ही बिजली गिरी। पत्र पढ़ते ही उसका सिर घूम गया। "हाय भगवान! इस वृद्धावस्था में चोरी की बदनामी मिली और वह भी अपने परम मित्र के द्वारा! अहा, इस अपमान से तो मृत्यु भी अच्छी होती! परन्तु इस कलंक को धोये बिना मैं मर भी तो नहीं सकता! मैं जब उसके घर गया था, हो सकता है कि उसी समय हार चोरी हो गया हो; और उसे मुझ अभावग्रस्त पर ही सन्देह हुआ हो। पर उसकी कितनी दया है कि उसने अभी तक कुछ कहा नहीं! यदि पहले यह आरोप लगाता, तो मेरे लिये आत्महत्या के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं बचता! ठीक है, तुम्हारा हार गया है, तो तुम्हें मिलेगा, परन्तु तुम भी देखोगे कि तुम्हारा यह मित्र किस हाड़-मांस से बना है! भगवान निश्चय ही यह सिद्ध कर देंगे कि राउत चोर नहीं है। उसने हार नहीं लिया है।

बाला राउत के नेत्रों से गरम-गरम अश्रुधार बहने लगी। क्षोभ, दु:ख तथा अभिमान से उसे अपने जीवन का एक-एक क्षण भार प्रतीत हो रहा था। उसने अपने मित्र की पत्नी के गले में अनेकों बार वह हार देखा था। उसका डिजाइन आदि उसे ज्ञात था। उसने स्वर्णकार को वह सब समझाकर करीब डेढ़ हजार रुपयों के सोने का एक हार गढ़वाया और उसे लेकर भूधर के घर जा पहुँचा। इसके लिये उसे अपनी जमीन को फिर बन्धक रखना पड़ा था।

– ४ –

"आओ भाई, आओ" – कहते हुए भूधर ने स्वागत किया और बैठने को आसन दिया। फिर अपने पुत्र को पुकारते हुए बोला, "अरे, तेरे राउत काका आये हैं, उनके लिये हाथ-पाँव धोने का जल और तम्बाकू ले आ।"

बाला राउत स्वयं उसके बच्चों को बुला या प्यार नहीं कर सकता था। वह उन लोगों का काका कहलाने के भी योग्य नहीं रह गया था। उसे अब उन लोगों की श्रद्धा नहीं प्राप्त होगी, क्योंकि उसने उन लोगों की माँ का हार चोरी किया है – यह बात उन लोगों के कानों तक निश्चय ही पहुँची होगी। "हे भगवान, मनुष्य चोरी न करके भी चोर के रूप में बदनामी पाता है, दण्ड पाता है" – इस बात का उसे भलीभाँति अनुभव हुआ। यह हार देकर आज मैं प्रमाणित कर दूँगा और इस हाड़-मांस के खाँचे को यही छोड़ जाऊँगा। आँधी के समान ये ही सब विचार आकर उसके हृदय में उथल-पुथल मचा रहे थे। वह बोला, "भाई, पहले लड़के की माँ को बुलाओ, उसके बाद तम्बाकू पीया जायगा। पहले मैं हार को उसके हवाले कर दूँ।"

मित्र के मन की दशा को थोड़ा समझने के बाद भूधर अपनी स्त्री को बुलाने गया, ताकि उसे चुपचाप कह सके कि वह उस हार के विषय में कोई बात न कहे। बाला राउत जब हार देने की बात कह रहा था, उसी समय घर का नौकर हाथ-मुख धोने के लिये पानी लेकर उधर आ रहा था। वह अपने बाल-बच्चों के साथ उसी परिसर में गोशाले के पास के एक कमरे में रहता था। वह बहुत पुराना नौकर था, परन्तु जिस दिन राउत आया था, उस दिन वह रात में उसका बिस्तर लगाने गया और लोभ के वशीभूत होकर उसने उस हार को चुरा लिया था। बाद में जब घर में सबको विश्वास हो गया कि हार राउत ले गया है, तब उसने निश्चिन्तता की साँस ली और अपनी पत्नी को भी उस बात से अवगत कराया। उसकी स्त्री भले स्वभाव की थी, बोली, "ऐसा कार्य उचित नहीं है। महापाप होगा। निर्दोष सज्जन व्यक्ति का अपमान भगवान सहन नहीं करते। बुद्धि लगाकर किसी प्रकार हार को घर के भीतर रख आओ, ताकि ढूँढ़ने पर मालकिन को मिल जाय!" परन्तु इस पर भी वह हार का लोभ छोड़ नहीं सका, विशेषकर जबकि दूसरे के ऊपर चोरी का आरोप लग चुका हो। वह निर्धन था, अत: ऐसा मौका भला कैसे छोड़ सकता था! सारे जीवन में वह हजार रुपये कमा सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह था। बाला राउत हार ले आये हैं, यह सुनकर उसके आनन्द की सीमा न रही। वह अपनी स्त्री को यह सुखद संवाद देते हुए बोला, "देख पगली, तू हार को रख आने के लिये कह रही थी। भाग्यवश मैंने तेरी बात नहीं मानी। मानने से इतने रुपयों की चीज हाथ से निकल जाती। बाला राउत देने के लिये एक हार ले आया है। चोरी की बदनामी तो उसकी रह गयी और वह अपने घर की चीज देने आया है। ये सज्जन लोग भी कैसे मूर्ख होते हैं!" यह कहकर वह हँसने लगा। उसकी पत्नी बोली, "सर्वनाश! बेचारा निर्दोष आदमी मारा गया!"

ठीक तभी भूधर अपनी पत्नी को बुलाने तथा उसे पहले से ही सावधान करने खलिहान की ओर जा रहा था। उसके

कानों में नौकर दम्पत्ति की बातें आ पड़ी और यह समझते उसे देर न लगी कि असली चोर कौन है ! वह उन लोगों के कमरे में जाकर शान्त भाव से बोला, "वह हार कहाँ है, ला तो !" नौकर ने गुप्त स्थान से निकालकर हार दे दिया। भय से नौकर के चेहरे का रंग उड़ गया था। भूधर ज्योंही हार को लेकर खलिहान की ओर गया, वह भाग निकला। भूधर ने सोचा था कि बाद में उसे इस दुष्कर्म के लिये समुचित दण्ड दिया जायगा। पहले तो मित्र के प्रति जो अपराध हो गया है, उसके लिये पति-पत्नी मिलकर उससे क्षमा की भिक्षा माँगेंगे।

– ५ –

खलिहान में जाकर उसने गृहिणी को हार दिखाते हुए सारी बातें कहीं। सुनकर वह लज्जा से गड़ गयी। बोली, "अरे, यह कैसा अनर्थ हुआ ! यह तो बड़ी भयंकर भूल हुइ हैं ! अब क्या किया जाय? क्या वे हमें क्षमा करेंगे?"

"अब उनके चरण पकड़कर क्षमा माँगने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या हो सकता है ! जल्दी चलकर सबसे पहले इस पाप का प्रायश्चित्त करो, उसके बाद ही कोई दूसरा कार्य होगा।" पति-पत्नी दोनों बाला राउत के पास आये – दोनों के नेत्रों से पश्चाताप की अजस्र अश्रुधारा बह रही थी। उन्हें रोते देखकर बाला राउत ने पूछा, "रो क्यों रहे हो? हार ले आया हूँ। तुम लोगों की कोई हानि नहीं होगी।" भूधर असली हार को उसके चरणों में रखते हुए बोला, "भाई, क्षमा करो, मैंने अनजाने ही बड़ा भयानक पाप कर डाला है। बड़ा अन्याय हुआ है। हमें क्षमा कर दो। मित्र समझकर क्षमा कर दो।" यह कहकर रोने लगा। उसकी पत्नी अपने गले के आँचल से उसके पाँव पकड़ने लगी। वह उसे रोकते हुए बोला, "क्या करती हो ! क्या करती हो !" फिर वह जो हार लाया था, उसे देते हुए बोला, "यह लो, यह रहा तुम्हारा हार !" उसके नेत्रों से अभिमान के आँसुओं की उष्ण धारा बही जा रही थी। थोड़ा शान्त हो जाने पर भूधर ने आद्योपान्त सारी बात कह सुनायी। भगवान सत्य की लज्जा किस प्रकार बचाते हैं, इस घटना में उसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर सभी विस्मित तथा मुग्ध रह गये। "जय सत्य-भगवान, तुम्हारी जय हो ! तुम्हारी लीला अपरम्पार है ! तुम्हारी महिमा समझने में भला कौन समर्थ है ! जय हो, तुम्हारी जय हो !" कहकर बाला राउत आनन्द के आँसू बहाने लगा। भूधर बोला, "भाई, बहुत दिनों से एक साथ बैठकर खाना नहीं हुआ था। चलो आज साथ बैठकर भोजन किया जाय।" ❑❑❑

वह करता उद्धार स्वयं का

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जीने को तो सब जीते हैं जीव यहाँ,
जीवन उसका ही, जो जग में जाग गया।

श्वासों का आना-जाना ही जीवन क्या,
खाना-सोना, मर जाना ही जीवन क्या,
वह ही उसका सूर्योदय उल्लास भरा,
मोह-निशा का तम जिस जन को त्याग गया।
जीवन उसका ही, जो जग में जाग गया।

नहीं सरोवर सलिल स्वयं ही पीते हैं,
जड़ हैं, फिर भी तरु तक परहित जीते हैं,
सूर्य-चन्द्र क्या, तारे भी तो करते हैं,
नित्य-निरन्तर अखिल लोकहित याग नया।
जीवन उसका ही, जो जग में जाग गया।।

होता है जयगान सदा बलिदानों का,
करते हैं सम्मान सभी अवदानों का,
मूल्य भला क्या उसका होगा जीवन में
जो कायर कर्त्तव्य छोड़कर भाग गया।
जीवन उसका ही, जो जग में जाग गया।

जो प्रमाद से नहीं स्वयं को छलता है,
जो प्रदीप की भाँति जगत में जलता है,
वह करता उद्धार स्वयं का पौरुष से,
बन जाता धरती का सुखद सुहाग नया।
जीवन उसका ही, जो जग में जाग गया।।

प्रार्थना किस चीज के लिये करें

प्रार्थना कैसे की जाय – यही मुख्य बात है। संसार की चीजों के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। प्रार्थना नारद की तरह करनी चाहिए। देवर्षि नारद ने भगवान राघवेन्द्र से कहा था, "हे राम ! यही करो कि तुम्हारे चरण-कमलों में मेरी शुद्धा भक्ति हो।" राम ने कहा, "तथास्तु। और भी कोई वर लो।" नारद बोले, "कृपा करके यह वर दो कि मैं तुम्हारी भुवन-मोहिनी माया में मुग्ध न हो जाऊँ।" राम ने फिर कहा, "तथास्तु। कोई और वर माँगो।" नारद ने कहा, "नहीं भगवन् ! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।"

— *श्रीरामकृष्ण*

दु:ख की समस्या

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयो पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

यह प्रत्यक्ष है कि हमारे समस्त दु:खों का प्रारम्भ मन में होता है। मन हमारा मित्र है और शत्रु भी। वश में किया हुआ मन हमारा मित्र है, और जब यह मन हमें वश में कर लेता है, तब हमारा शत्रु है। यदि हम सावधानी से अपना विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि मन ही हमारे सब दु:खों का उद्गम-स्थान है। भ्रमवश हम दूसरों पर दोष लगाते हैं। दूसरों पर दोष मढ़ना सहज है, पर अपने दु:ख के लिए जो स्वयं को दोषी मानता है, वह दु:ख से ऊपर उठने की दिशा में मानो एक कदम आगे बढ़ जाता है।

यदि हम अपने मन पर ध्यान दें और देखें कि यह क्या है, तो हम देखते हैं कि यह सदा परिवर्तनशील है। एक क्षण में वह सुखी होता है और एक क्षण में दु:खी। कभी अचानक ही वह चिड़चिड़ा हो जाता है। पर हममें से अनेक मन के इस अकस्मात् परिवर्तन का कारण पकड़ नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि हममें संयम नहीं है; इसलिए कि मन अत्यन्त चंचल है। मन की यह चंचलता ही उसकी विक्षिप्तता का कारण है। मन की इस चंचलता को मन पर निगाह डालने के अभ्यास द्वारा कम किया जा सकता है। हमें अपने विचारों को देखने का अभ्यास करना होगा।

यदि हम नियमित रूप से कुछ समय तक ऐसा अभ्यास करें, तो हम अपने मन का अध्ययन करने में तथा इसके परिवर्तन को देख सकने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रश्न उठता है कि मन के इस परिवर्तन को कौन देखता है? कोई वस्तु, जो हमारे भीतर ही है। हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हम स्वयं ही अपने मन को देख रहे हैं। हम कहते हैं – "मेरा मन मुझे दु:ख देता है।" यह कथन ही स्पष्ट करता है कि मैं मन से पृथक् हूँ। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे भीतर मन से अतीत कोई वस्तु है और वह वस्तु है चेतना। यदि हम इस चेतना को पकड़कर मन से ऊपर उठ जायँ, तो हम मन को नियंत्रण में लाने में समर्थ हो सकेंगे और इस प्रकार दु:ख की समस्या का समाधान कर लेंगे।

आर्किमिडीज ने कहा था कि यदि हम पृथ्वी से परे, पर्याप्त दूरी पर एक स्थान ढूँढ़ सकते, तो हम पृथ्वी को ढेंकली से उसी प्रकार उठा या झुका सकते थे जैसे कि एक सेव को। इसी तरह यदि हम मन से परे तथा मन से दूर एक स्थिति ढूँढ़ सकें, तो अपने मन को पूर्णतया संयत कर सकते हैं। पर मुश्किल यह है कि हम अपने मन और शरीर से तदाकार हो जाते हैं, इसलिए मन को अपने नियंत्रण में नहीं ला पाते। फलस्वरूप हम दु:ख का अनुभव करते हैं।

अच्छा, एक प्रश्न पूछें। दु:खी कौन होता है? हमारा मन या शरीर, या दोनों? जब हम शारीरिक व्यथा का अनुभव करते हैं, तब व्यथा शरीर की होती है। दूसरी ओर, जब हम अपमान या हानि सहते हैं, तब हम व्यथा का अनुभव शरीर में नहीं, मन में करते हैं। जब हम अन्य किसी व्यक्ति के व्यापार में घाटा पड़ जाने की बात पढ़ते हैं, तब हमें उतना दु:ख नहीं होता, किन्तु यदि वह व्यापार हमारा हो, तो हमें कठोर आघात पहुँचता है। यह सब इस पर निर्भर करता है कि हम उस दुर्घटना से कितने सम्बन्धित हैं। हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि जब हम मन को इन वस्तुओं के साथ एकाकार कर लेते हैं, तभी दुखी होते हैं। यदि हम अपने मन को दु:ख के विषय से एकाकार न करें, तो संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो हमारे दु:ख का कारण बने। अत: हमें चाहिए कि हम शरीर और मन से एकाकार न हों।

पर प्रश्न यह है कि यह सम्भव कैसे हो? हमने पूर्व में मन से परे जिस चेतना की बात कही, उसमें यदि हम अपनी आस्था गहरी कर सकें, तो धीरे-धीरे यह सम्भव है कि हम अपने मन पर नियंत्रण पा लें। पहले युक्तियों, तर्कों और प्रमाणों के बल पर हमें इस चेतना की बौद्धिक धारणा करनी पड़ती है, तत्पश्चात् इस चेतना को अनुभव में लाने का प्रयास करना पड़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है –

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा: ।
तदा देवमविज्ञाय दु:खस्यान्तो भविष्यति ।।

– "जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे, तब देव यानी ईश्वर यानी उस विराट् चेतना को बिना जाने दु:ख का अन्त हो सकेगा।" तात्पर्य यह कि मनुष्य आकाश को चमड़े के समान कभी लपेट नहीं सकता। अतएव बिना उस विराट् चेतना की अनुभूति के दु:ख का भी अन्त नहीं हो सकता। दु:ख की समस्या का स्थायी समाधान केवल इसी प्रकार सम्भव है। ❑❑❑

देवेन्द्रनाथ मजूमदार

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

"कौन कहता है कि ईश्वर नहीं है? ईश्वर जरूर होगा, नहीं तो अघोरनाथ को कौन बचाता?" – पागल के समान देवेन्द्रनाथ चिल्ला उठे। ईश्वर के लिए उनकी तीव्र व्याकुलता ने उन्हें इधर-उधर बहुत दौड़ाया था। पर कोई लाभ न हुआ था। वे अब अपने मामा हरीश मुस्तफी की बैठक में बैठकर साधु अघोरनाथ[१] की जीवनी के पन्ने पलट रहे थे। उसमें वे उस घटना पर पहुँचे, जहाँ अघोरनाथ डाकुओं के एक दल के हाथ में पड़ गये थे, पर आश्चर्यजनक रूप से मारे जाने से बच गये थे। इसे पढ़कर देवेन्द्रनाथ अभिभूत हो उठे, वे तत्काल अपने घर लौट गये और कमरे में अपने को बन्द कर कातर भाव से ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। बीच-बीच में वे इतने विह्वल हो जाते कि दीवाल पर अपना सिर पटकने लगते। इस प्रकार बिना खाये-पिये और सोये तीन दिन और तीन रातें बीत गयीं। चौथे दिन सुबह छत पर चढ़कर उगते सूरज की ओर देखते हुए वे कह उठे – "कौन कहता है कि ईश्वर नहीं है? यह देखो उसके ऐश्वर्य की एक झलक!" और अब उनके अन्तर्मन ने उन्हें बिना समय गँवाये अपने आध्यात्मिक गुरु को खोज लेने के लिए प्रेरित किया।

जैसोर (अब बँगला देश में) के जगन्नाथपुर नामक गाँव में १८४४ ई. में एक ब्राह्मण-परिवार में जन्मे देवेन्द्रनाथ का लालन-पालन धार्मिक वातावरण में हुआ था। जब देवेन्द्र दो मास के ही थे, तभी उनके पिता श्री प्रसन्ननाथ बन्द्योपाध्याय मजूमदार का निधन हो गया था, इसलिए देवेन्द्र के बड़े भाई सुरेन्द्रनाथ ने परिवार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया था। उनकी माता बामासुन्दरी धार्मिक प्रवृत्ति की थीं; उनका देवेन्द्र पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। बालक देवेन्द्र ने एक पाठशाला में पाँच-छह वर्ष तक अध्ययन किया था, परन्तु वे प्रतिभावान छात्र नहीं थे, न ही उनका प्रचलित शिक्षा के प्रति कोई रुझान ही था। परन्तु अपने अग्रज सुरेन्द्रनाथ के संस्पर्श से, जिनका कवि के रूप में अच्छा नाम हो गया था, देवेन्द्र में बँगला साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत हो गयी। सत्ताईस वर्ष की आयु में अपनी माँ के आमरण-अनशन की धमकी के फलस्वरूप उनको विवाह करना पड़ा। इसके आठ वर्ष बाद सुरेन्द्र की मृत्यु हो गयी, इसलिए परिवार का भार बड़े कष्टों के साथ देवेन्द्र को वहन करना पड़ा। उन्होंने जोड़ासाँको के टैगोर परिवार के मैनेजर के आफिस में क्लर्क की नौकरी कर ली और अहीरीटोला, कलकत्ता की नीमू गोस्वामी लेन में एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया।

धार्मिक स्वभाव के होने के कारण इसी बीच उन्होंने अपने बड़े भाई से योगाभ्यास सीख लिया था। ग्यारह वर्ष के श्रद्धायुक्त अभ्यास से उन्हें तरह-तरह के दर्शन आदि होते थे। परन्तु ये सब उन्हें सन्तुष्ट न कर सके, क्योंकि उनकी ईश्वर के साक्षात् दर्शन करने की प्रबल इच्छा थी। वे ब्राह्म-समाज में जाने लगे। वहाँ ब्राह्मसमाज के सबसे लोकप्रिय नेता केशवचन्द्र सेन के साथ उनका परिचय हुआ। परन्तु वे भी आध्यात्मिक रूप से इतना पहुँचे हुए नहीं थे कि देवेन्द्र की आन्तरिक पिपासा को शान्त कर पाते।

इसलिए अब वे पूरी लगन के साथ अपने लिए सद्गुरु की खोज में लग गये। एक दिन वे कालना के सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त भगवानदास बाबाजी के दर्शन के लिए निकले, पर विलम्ब होने से स्टीमर छूट गया और उनका जाना न हो सका। वापस लौटते समय वे पथुरियाघाट स्ट्रीट में अपने परिचित नगेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय के यहाँ ठहर गये। नगेन्द्रनाथ घर पर नहीं थे, परन्तु उनकी मेज पर एक पुस्तक[२] पड़ी थी, जिसे उठाकर देवेन्द्र यूँ ही पलटने लगे। सौभाग्यवश उसमें सहसा ही उनको दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस के बारे में जानकारी मिली। उन्हें ऐसा लगा कि परमहंस एक बहुत पहुँचे हुए सन्त हैं और उनसे उनको सहायता मिल सकती है। गम्भीर भाव से सोचते हुए वे घर की ओर चल पड़े। रास्ते में एक अन्य परिचित से भेंट हुई, जिसने परमहंस के निवास का पता दिया। घर पहुँचकर, सम्भवत: कुछ पैसे लेकर वे तत्काल दक्षिणेश्वर की ओर निकल पड़े। वह फरवरी, १८८४[३] के पूर्वार्ध का

१. "साधु अघोरनाथेर जीवन चरित" (बँगला) तृ.सं., पृ. ३१-३। (ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार लिखित 'महात्मा देवेन्द्रनाथ' (बँगला), बंगाब्द १३३७, पृ. ३५ से उद्धृत।)

२. गुरुदास बर्मन लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला) (कलकत्ता, प्रथम सं.) भाग १, पृ. २७६ के अनुसार वह पुस्तक थी त्रैलोक्यनाथ सान्याल लिखित 'भक्ति-चैतन्य-चन्द्रिका' (बँगला) पृ. ६३ **३.** जनवरी, १८८४ में एक दिन श्रीरामकृष्ण अकेले दक्षिणेश्वर के झाऊतला की ओर जा रहे थे कि उन्हें जैसा प्राय: होता था, भाव-समाधि लग गयी। वे गिर पड़े तथा उनकी बायीं कलाई की हड्डी सरक गयी। 'म' रचित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' भाग १, (सं. १९९९) पृ. ४३५ से यह

कोई दिन था। तब सुबह के लगभग दस बजे थे।

देवेन्द्र ने अहीरीटोला से नाव ली। नौका-यात्रा के दौरान देवेन्द्र ने परमहंस का एक मानसिक चित्र बनाना शुरू किया, क्योंकि उनके बारे में उन्होंने थोड़ी ही महत्त्वपूर्ण बातें सुनी थी। बीच बीच में वे सोचने लगते कि यह यात्रा वे शायद बहुत जल्दबाजी में कर रहे हैं – इतने पहुँचे हुए सन्त से इस प्रकार मिलने की जगह क्या उन्हे वापस नहीं लौट जाना चाहिए? परन्तु तब लौटने का कोई मौका न रहा, क्योंकि नाववाले ने शीघ्र ही दक्षिणेश्वर पहुँच जाने की सूचना दी। देवेन्द्र की नजर एक लाल किनारीवाली धोती पहने व्यक्ति पर पड़ी, जिसके हाथ में बैंडेज बँधा हुआ था और वह गले में बँधी हुई पट्टी से झूल रहा था। वह व्यक्ति घाट पर इस प्रकार खड़ा था, मानो किसी की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा हो।[४] देवेन्द्र कुछ कम्पित हृदय के साथ नाव से उतरे। पर तब तक वह व्यक्ति आँखों से ओझल हो चुका था।

तब घाट पर खड़े एक युवक[५] के बताये रास्ते से चलकर देवेन्द्र श्रीरामकृष्ण के कमरे के पश्चिम की ओर स्थित बरामदे मे जा पहुँचे। उन्होंने देखा कि कमरा खाली है; परन्तु उसके शीघ्र बाद एक व्यक्ति वहाँ आया, जिसने पैरों में चट्टी पहन रखी थी तथा जिसकी धोती का एक छोर उसके कन्धे से झूल रहा था। उसका बायाँ हाथ बैंडेज से बँधा हुआ गले से झूल रहा था। देवेन्द्र पहचान गये कि इन्हीं को उन्होंने घाट पर देखा था। उन्हें ऐसा लगा कि वे परमहंस शायद यही हैं, जिनके दर्शन के लिए वे आये हैं। परन्तु उनकी परमहंसों के विषय में जो धारणा थी कि उन लोगों के लम्बे जटा-जूट होते हैं और वे गेरुआ वस्त्र धारण किये रहते हैं आदि आदि, उससे इनका मेल नहीं खा रहा था। देवेन्द्र ने झुककर उनके चरणों की धूलि ली। वे वास्तव में श्रीरामकृष्ण ही थे। उन्होंने ग्राम्य भाषा में उनसे कहा, "उस दूसरे दरवाजे से भीतर आओ।" देवेन्द्र घूमकर उत्तरी बरामदे के दरवाजे से जब भीतर पहुँचे, तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपनी प्रतीक्षा करते पाया। श्रीरामकृष्ण बोले, "अपने जूते वहाँ मत छोड़ो; चोर उन्हें उठा ले जाएँगे। उन्हें यहाँ पर रख दो।" देवेन्द्र ने वैसा ही किया और उसके बाद श्रीरामकृष्ण के सम्मुख खड़े हो गये।[६]

श्रीरामकृष्ण उस समय करीब अड़तालिस वर्ष के थे और उनकी दाढ़ी के कुछ-कुछ केश पकने लगे थे। कुछ दिनों पूर्व वे सहसा गिर पड़े थे, जिससे उनकी बायी कलाई की हड्डी खिसक गयी थी। उस समय तक केशवचन्द्र सेन और कलकत्ते के मध्यमवर्गीय अन्य पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट हो चुका था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं प्रचलित शिक्षा का तिरस्कार कर दिया था, पर मानव -हृदय के विषय में उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि तथा उच्च आध्यात्मिकता ने उन्हें एक अति उच्च स्तर का आचार्य बना दिया था। वे चमत्कारिक रूप से अपने पास आनेवाले लोगों की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को सहज ही भाँप लेते। आध्यात्मिक रुझानवाला जो कोई भी श्रीरामकृष्ण से मिलता, उन पर उनकी स्वाभाविक सरलता तथा पवित्रता का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता।

श्रीरामकृष्ण ने देवेन्द्र से पूछा, "कहाँ से आ रहे हो?" "कलकत्ते से," – देवेन्द्र का उत्तर था। श्रीरामकृष्ण खड़े थे। उन्होंने आकर्षक ढंग से अपना एक पैर मोड़कर दूसरे के घुटने पर रखते हुए तथा हाथों को मुरली पकड़ने की श्रीकृष्ण की मुद्रा बनाकर देवेन्द्र से पूछा, "अच्छा, क्या तुम इन्हें देखने आये हो?"[७] "नहीं," देवेन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं तो आपको देखने आया हूँ।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण पीड़ा-भरी वाणी में बोल उठे, "मुझे क्या देखोगे? मैंने तो गिरकर अपना एक हाथ तोड़ लिया है। छूकर देखो। यहाँ पर है। देखकर बताओ तो क्या सच में हड्डी टूटी है? बड़ी पीड़ा हो रही है! क्या करूँ?"

देवेन्द्र ने हाथ की परीक्षा की। उन्होंने पूछा, "महाराज, आपको यह चोट कैसे लगी?" श्रीरामकृष्ण वैसे ही शिकायत के स्वर में बोल उठे, "ओह, कभी-कभी मेरे मन की विचित्र अवस्था हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में कुछ दिन पहले मैं गिर पड़ा और हाथ तुड़वा बैठा। दवा से कई बार दर्द और बढ़ जाता है। अधर सेन ने कुछ लगाया, पर उससे सूजन और बढ़ गयी। तब से मैंने कुछ भी लगाना बन्द कर दिया है। अच्छा, क्या मैं फिर ठीक हो जाऊँगा?" देवेन्द्र ने थोड़ी देर सोचा। विचार किया कि ये तो सन्त-महापुरुष हैं, जल्दी ही स्वस्थ हो जाएँगे, इसलिये उन्होंने सांत्वना देते हुए कहा, "जरूर! आप फिर से बिलकुल ठीक हो जाएँगे।"

इससे परमहंस प्रसन्न हो उठे। दूसरों को पुकारकर कहने लगे, "यह देखो, ये कह रहे हैं कि मेरा हाथ फिर ठीक हो जायगा। ये कलकत्ते के रहनेवाले हैं।" देवेन्द्र ने इसके पूर्व कभी इतना भोला-भाला व्यक्ति नहीं देखा था। उनके मन मे एक संशय कौंध उठा। वे सोचने लगे, "परमहंस का क्या

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह घटना ६ जनवरी और १ फरवरी, १८८४ के बीच की है – सम्भवत: ८ जनवरी, १८८४ को केशवचन्द्र सेन की मृत्यु के बाद की। ऐसा उल्लेख आता है कि २ फरवरी को चिकित्सक ने आकर पट्टी बाँधी थी, अत: उसके पूर्व की ही बात होगी। इससे देवेन्द्रबाबू की भेंट की तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है। उस भेंट में हुए वार्तालाप से भी यह स्पष्ट होता है कि इस बात का ठीक-ठीक निर्धारण नहीं हो सका था कि हड्डी सरकी है या टूटी है। **४.** ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार : वही पृ. ३९-४०। **५.** स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भा. २, पृ. ३८१। देवेन्द्र ने शीघ्र ही जाना था कि वह युवक निरंजन घोष है, जो बाद में स्वामी निरंजनानन्द के नाम से परिचित हुआ।

६. गुरुदास बर्मन : वही, पृ. २७८; **७.** वे मानो संकेत से पूछ रहे थे कि क्या उनका मन्दिर में श्रीकृष्ण-मूर्ति के दर्शन हेतु आना हुआ है?

ऐसा ही स्वभाव होता है? कहाँ तो मैं एक सन्त को देखने आया था और कहाँ ये ही मुझे सर्वज्ञ मान रहे हैं! मेरे शब्दों को ये इतना प्रामाणिक और निर्णायक मान ले रहे हैं। मेरे कहने से ही ये सोचते हैं कि स्वस्थ हो जाएँगे। क्या यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति में इस प्रकार शिशुवत् विश्वास हो? सम्भव है, यह सब ढोंग हो!'' ऐसा सोचकर वे अपने सामने खड़े व्यक्ति को अच्छी तरह परखने के लिए उनके चेहरे की ओर खूब ध्यान से देखने लगे। उन्होंने पहले ही देखा था कि श्रीरामकृष्ण की देह स्त्रियों के समान कोमल है और उनका मन एक बच्चे के मन-जैसा साफ है। अब सब मिलाकर श्रीरामकृष्ण के शिशुवत् सरल व्यवहार ने देवेन्द्र के मन पर अनुकूल प्रभाव डाला। उनके मन में श्रीरामकृष्ण के ढोंगी होने के बारे में जो संशय उठा था, वह शीघ्र पूरी तौर से मिट गया और वे आश्वस्त हो गये कि ऐसी शिशुवत् सरलता इस व्यक्ति के अन्दर सहज स्वाभाविक रूप से है।[८]

कुछ देर बाद श्रीरामकृष्ण के कहने पर हरीश नामक एक युवक ने देवेन्द्र को कुछ प्रसादी मिठाइयाँ दीं। देवेन्द्र ने उन्हें खाया। अब श्रीरामकृष्ण भगवत्-प्रेम का उपदेश देने लगे, ''जानते हो प्रेम – ईश्वर के लिये दिव्य-प्रेम क्या है? ऐसे प्रेम की ऊँची तरंगें उठने पर मनुष्य बाहरी वस्तुएँ भूल जाता है, संसार विस्मृत हो जाता है; यहाँ तक कि स्वयं की देह, जो सर्वाधिक प्रिय है, उसका भी भान नहीं रहता। जैसे आँधी में वृक्ष और घर में भेद नहीं दिखायी पड़ता – सब एक से दिखते हैं, वैसे ही भगवत्-प्रेम का उदय होने पर भेद-बुद्धि मिट जाती है।'' इन शब्दों से देवेन्द्र मुग्ध हो गये; इसके पूर्व उन्होंने कभी किसी को ऐसा कहते नहीं सुना था। बातों के दौरान श्रीरामकृष्ण ने एक बार फिर अधर सेन का उल्लेख किया, जो डिप्टी मजिस्ट्रेट थे और देवेन्द्र के परिचित थे। वे श्रीरामकृष्ण के पास प्राय: ही आया करते थे। देवेन्द्र को अब श्रीरामकृष्ण में कुछ अनोखेपन का बोध होने लगा। उन्होंने उनके प्रति गहरे लगाव का अनुभव किया।

दोपहर के भोजन का समय हो गया था। श्रीरामकृष्ण देवेन्द्र से बोले, ''देखो, उच्च वर्ण के ब्राह्मण लोग यहाँ प्रसाद पाते हैं, क्योंकि यहाँ मन्दिर है। देवता का प्रसाद ग्रहण करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए तुम भी यहीं प्रसाद पाओ, अभी घर मत जाओ।''

देवेन्द्र एक निष्ठावान ब्राह्मण होने के नाते भोजन के विषय में बड़ा विचार करते थे, तथापि श्रीरामकृष्ण के प्रेममय आग्रह ने उनकी झिझक दूर कर दी। श्रीरामकृष्ण ने अपने भतीजे रामलाल को पुकारते हुए कहा, ''देख, यहाँ एक धर्मप्रेमी सज्जन आये हैं, ये आज यहीं प्रसाद पाएँगे। इन्हें भगवान विष्णु को अर्पित किया हुआ प्रसाद देना।'' देवेन्द्र विस्मित रह गये। जब वे श्रीरामकृष्ण से मिले थे, तब उन्होंने भगवान कृष्ण की भंगिमा धारण की थी। फिर उन्होंने देवेन्द्र की भोजन विषयक कट्टरता तोड़ दी और अब प्रसाद के बारे में विशेष निर्देश दे रहे थे। देवेन्द्र सोचने लगे, ''इन्हें कैसे पता चला कि मैं बचपन से ही शुद्ध शाकाहारी हूँ? फिर श्रीकृष्ण के प्रति मेरी स्वाभाविक भक्ति को ये कैसे जान गये? लगता है कि ये निश्चित रूप से दूसरों के भीतर स्पष्ट देख लेते हैं।'' इसके बाद देवेन्द्र ने राधाकान्त-मन्दिर का प्रसाद पाया, यद्यपि उस दिन उन्हें अपने नियमित स्नान से वंचित रह जाना पड़ा।

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इतना प्रभावित कर दिया था कि जब तक वे रामलाल के साथ रहे, श्रीरामकृष्ण के बारे में ही बातें करते रहे। उसके बाद थोड़ा विश्राम करके वे श्रीरामकृष्ण के पास आ बैठे। उनके मुखारविन्द से जो भी निकला, उसे वे बड़े गौर से सुनने लगे। पुन: भगवत्-प्रेम की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण कहने लगे, ''वृन्दावन के गोप-गोपियों के समान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम जगाना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। जब श्रीकृष्ण मथुरा चले गये, तब वृन्दावन के गोपगण उनके बिछोह में बिलखते हुए वृन्दावन की गलियों में घूमा करते थे।'' इतना कह श्रीरामकृष्ण श्रीकृष्ण विषयक एक मर्मस्पर्शी भजन गाने लगे।[९] देवेन्द्र स्वयं भी कवि[१०] थे। उस गीत ने उन्हें अन्तस्तल से हिला दिया। प्रेम से भरे मधुर गीत को सुनकर उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भर आये। श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय को जीत लिया था।

श्रीरामकृष्ण के कहने पर देवेन्द्र सब मन्दिरों में दर्शन करने गये और लौट आये। कुछ और वार्तालाप के बाद श्रीरामकृष्ण ने पूछा, ''मुझे तुम्हारा चेहरा बीमार-सा क्यों दिख रहा है?'' देवेन्द्र ने अभी तक अपनी तरफ ध्यान नहीं दिया था; परन्तु अब श्रीरामकृष्ण के अपनत्व-भरे शब्दों को सुन उन्हें भान हुआ कि वे काफी ज्वर-सा महसूस कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण ने चिन्तित होकर पूछा, ''तुम्हें कोई पुरानी बीमारी तो नहीं है न?'' देवेन्द्र ने बतलाया कि वे मलेरिया ज्वर से आक्रान्त हुए थे, पर पिछले तीन महीने से कोई शिकायत न थी। यह सुन पुत्र के लिए जैसे माँ व्याकुल होती है, उसी प्रकार व्याकुल हो श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में टहलने लगे। अन्त में उन्होंने युवक भक्त बाबूराम (बाद में स्वामी प्रेमानन्द) को उनके साथ कर दिया। बाबूराम उसी समय उनके पावन सान्निध्य का लाभ उठाने वहाँ पहुँचे थे। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे के पश्चिमी बरामदे में खड़े हो घाट की ओर ताकने लगे। जब एक छतवाली नाव दृष्टिगोचर हुई, तब उनके आदेश से बाबूराम माझी को बुला लाये और यात्रा के

८. ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार : वही, पृ. २७८

९. अक्षयकुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्णपुँथि' (बँगला, कलकत्ता, द्वि.सं.) पृ. ३८३; **१०.** देवेन्द्रनाथ ने बहुत से भक्तिपरक भजनों की रचना की; (बाद में) प्रसिद्ध 'गुरु-स्तवाष्टक' की रचना की थी। उसमें गुरु की स्तुति में 'तोटक' छन्द में आठ कड़ियाँ हैं।

लिए उसे तय कर लिया।

देवेन्द्र के विदा लेते समय श्रीरामकृष्ण ने स्नेह-भरे शब्दों में कहा, "घर पहुँचकर किसी अच्छे चिकित्सक को दिखाना और जब बीमारी दूर हो जाय तो यहाँ फिर आना। आओगे न?" देवेन्द्र ने उत्तर दिया, "जरूर, महाराज।" श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम का हाथ पकड़कर कहा, "तू, दूसरे दिन आना, तब मैं तेरे साथ खूब बातें करूँगा। आज तू इन्हें सहारा देकर इनके घर पहुँचा दे।" वे तट पर खड़े होकर उन दोनों को नाव में चढ़कर कलकत्ते जाते हुए देखते रहे। बाबूराम की सहायता से देवेन्द्र उस दिन मुश्किल से अपने एक रिश्तेदार के घर गये, और आगे नहीं जा सके। इसके बाद इकतालिस दिन तक वे बुरी तरह बीमार रहे, ज्वर बहुत चढ़ जाता था, अवसन्नता आ जाती थी और वे प्रायः बेहोश हो जाते थे। उस दीर्घ अवधि में जब कभी वे आँखें खोलते, तो उन्हें लगता कि उनके पास स्नेहमय श्रीरामकृष्ण बैठे हुए है। बेहोशी में उन्हें प्रायः ही श्रीरामकृष्ण का नाम लेते सुना जाता। पर जब वे स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे, तब एक विचार उन्हें भीतर ही भीतर परेशान करता रहा, "सन्त के पास जाने से तो शान्ति और भलाई मिलती है। पर इस बार प्राणों पर ही आ बनी थी। अब बहुत हो गया। अब मेरा उस राह पर नहीं जाना ही ठीक है।" इस प्रकार संशय ने फिर उनके मन को ग्रस लिया। श्रीरामकृष्ण के इन दर्शनों को उन्होंने मात्र भ्रम समझकर मन से झटक दिया।

इसके बहुत दिनों बाद देवेन्द्र ने ब्राह्मसमाज के 'सुलभ-समाचार' पत्र में बागबाजार के बलराम बोस के यहाँ श्रीरामकृष्ण के पधारने की खबर पढ़ी। उसे पढ़कर, वे मानो खिंचे हुए-से उस दिन बलराम के घर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सान्ध्य प्रकाश में देखा कि श्रीरामकृष्ण भक्त-मण्डली के साथ कीर्तन करते हुए नृत्य कर रहे हैं। उनके लय-तालबद्ध, गहरी भक्ति-भावना अभिव्यक्त करनेवाले नृत्य ने भक्तहृदय देवेन्द्र को बहुत प्रभावित किया। अन्त में श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो स्थिर खड़े रह गये और भक्तगण उनके चरणों की धूलि लेने लगे। देवेन्द्र भी उन्हें चुपचाप प्रणाम कर लेना चाहते थे, पर उन्होंने ज्योंही श्रीरामकृष्ण के चरणों का स्पर्श किया, त्योंही विस्मित होकर श्रीरामकृष्ण की मधुर वाणी सुनी। उनमें तब तक कुछ बाह्य चेतना लौट चुकी थी। वे पूछ रहे थे, "कैसे हो? इतने दिन दक्षिणेश्वर क्यों नहीं आये? मैं प्रायः तुम्हारे बारे में सोचता हूँ।" इन स्नेहयुक्त शब्दों ने देवेन्द्र के सारे संशयों को पूरी तौर से मिटा दिया और उन्होंने जल्दी ही दक्षिणेश्वर आने का वचन दिया।

इसके बाद से देवेन्द्र जितना हो पाता दक्षिणेश्वर जाने लगे। शीघ्र ही उन्हें लगने लगा कि श्रीरामकृष्ण साधारण सन्तों की अपेक्षा कहीं बहुत उच्च स्तर के हैं और उनकी कृपा-दृष्टि से जीव की मुक्ति निश्चित है! उनसे मिलने के पूर्व देवेन्द्र को ऐसा कोई नहीं मिला था, जिसके जीवन और उपदेश का उन पर इतना गहरा प्रभाव हुआ हो। श्रीरामकृष्ण के अहैतुक प्रेम, पावित्र्य और सन्तस्वभाव ने देवेन्द्र को पूरी तरह जीत लिया।

एक दिन देवेन्द्र ने मन्त्र-दीक्षा के लिए प्रार्थना की, जिसे श्रीरामकृष्ण ने नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ अस्वीकार कर दिया। परन्तु कुछ दिन बाद यह देखने पर कि देवेन्द्र के अन्दर अभी भी दीक्षा लेने की तीव्र इच्छा बनी हुई है, उन्होंने कहा, "देखो, तुम्हें कोई विशेष साधना करने की जरूरत नहीं। तुम सिर्फ तालियाँ बजा-बजाकर 'हरिनाम' लिया करो। तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त होगा।"[११] सचमुच, इस सरल उपाय से देवेन्द्र को बड़ी शान्ति प्राप्त हुई। इसके कारण तथा श्रीरामकृष्ण के स्नेहमय व्यवहार से खिंचकर देवेन्द्र और भी जल्दी-जल्दी दक्षिणेश्वर आने लगे।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "अच्छा, तुम यहाँ बार-बार आते हो, (अपनी ओर इंगित करके) 'इसके' बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? तुमको कैसा लगता है?" निष्कपट देवेन्द्र स्पष्ट बोले, "मुझे कोई विशेष बात नहीं लगी। हाँ, अब भगवान और धर्म के लिये इधर-उधर भटकने की इच्छा नहीं रही। फिर मन भी पहले-जैसा अशान्त नहीं है।" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुमने निस्सन्देह बहुत चेष्टा की है।" फिर अपनी अँगुलियों को दोनों हथेलियों के बीच फँसाते हुए बोले, "परन्तु तलवार ठीक से म्यान में नहीं बैठी है। तुम जानते हो कि सबका अपना-अपना वैशिष्ट्य होता है।"[१२] अब से देवेन्द्र ने उनके मार्गदर्शन में अपनी साधना को सही दिशा में लगाया।

एक दिन देवेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके अपने को संन्यास-व्रत में दीक्षित करने की प्रार्थना की। श्रीरामकृष्ण राजी नहीं हुए। उन्होंने शिष्य को जमीन पर से उठा लिया और चैतन्य महाप्रभु की माता शची देवी के हृदय की व्यथा को चित्रित करनेवाला गीत गाने लगे – "(भावार्थ) ओ कंचन देहवाले गौर! तुम क्यों नदिया को छोड़कर भिक्षुक बनना चाहते हो? अहो, तुम्हारी सहधर्मिणी विष्णुप्रिया का क्या होगा? (तुम्हारे भाई) विश्वरूप के वियोग की व्यथा मुझमें अभी भी बनी है; तुम भी क्या अपनी अभागिन माँ को दुखी करना चाहते हो?"

श्रीरामकृष्ण स्पष्ट रूप से इस बात की ओर इंगित कर रहे थे कि देवेन्द्र की माता अपने बड़े पुत्र सुरेन्द्र की मृत्यु के बाद अभी भी नहीं सँभल पायी थीं। फिर उन्होंने देवेन्द्र को इस बात का भी स्मरण करा दिया कि घर में उनकी साध्वी पत्नी है, जिसके भरण-पोषण की जिम्मेदारी उन्हीं पर है।[१३] वस्तुतः लगता है इस गीत से देवेन्द्र को विश्वास हो गया कि संन्यास उनके लिए नहीं है तथा उनके जीवन की दिशा भिन्न है।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

११. 'उद्बोधन', (बँगला मासिक) वर्ष २९, संख्या २, पृ. ६८
१२. वही, पृ.६९; **१३.** अक्षयकुमार सेन : वही, पृ. ५५६

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१०)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

ठाकुर का जीवन सजीव उपनिषद् है

प्रथम परिच्छेद

(निरक्षर ठाकुर को लोग इतना क्यों मानते हैं)

आज ७ मार्च, १९१६ ई., मंगलवार का दिन है। रात के आठ बजे होंगे। आगन्तुक-कक्ष में स्वामी विवेकानन्द की एक पुस्तक से पाठ हो रहा है। पूजनीय स्वामी प्रेमानन्द, अखण्डानन्द, धर्मानन्द, चिन्मयानन्द, ब्रह्मचैतन्य आदि मठ के प्रायः सभी साधु और कलकत्ते से आये कुछ गृही भक्त भी उपस्थित हैं। कमरा लोगों से भरा हुआ है।

पाठ समाप्त हो जाने पर पूजनीय अखण्डानन्द स्वामी बोले – कल से इन लोगों को उपनिषद् पढ़ाऊँगा।

बाबूराम महाराज – जीवन्त उपनिषद् के रहते दूसरा कौन-सा उपनिषद् पढ़ाओगे? ठाकुर का जीवन ही तो जीवन्त – ज्वलन्त उपनिषद् है। जैसे महाप्रभु का जन्म न होने पर कोई राधाकृष्ण का पवित्र प्रेम नहीं समझ पाता, वैसे ही ठाकुर उपनिषद् की जीवन्त मूर्ति हैं। उपनिषद् तो लोग काफी काल से पढ़ रहे हैं, कण्ठस्थ कर रहे हैं, काफी काल से उसकी परम्परा भी चली आ रही है, परन्तु लोग हमारे अपढ़ निरक्षर ठाकुर को क्यों मानते हैं, क्यों उनकी बातों को वेद-वाक्य मानते हैं? उन्होंने स्वयं तो उपनिषद् आदि कुछ भी नहीं पढ़ा था। तो फिर किस प्रकार वे उन समस्त जटिल तत्त्वों को अपनी सीधी-सादी बातों के द्वारा सबको समझाते थे? किस काल में, किस युग में वेद हुआ है – उसे पढ़ने के लिए लोग व्याकरण रटते हैं, फिर कितने लोग अपने मतानुसार उसकी भाष्य-टीका कर रहे हैं; फिर कितने पण्डित इसके लिए तर्क-वितर्क कर रहे हैं, तो भी उसकी मीमांसा नहीं कर पाते। दूसरी ओर ठाकुर! उपनिषद् पढ़े बिना ही, उसका तत्त्व कितनी सरल बातों में समझा रहे हैं; बहुत दिन नहीं हुए कि लुप्त हो गया हो। ऐसे फव्वारे के सामने रहते, क्या कुँआ खोदकर पानी पीना होगा?''

कल श्रीठाकुर की तिथिपूजा भलीभाँति सम्पन्न हो गयी। उस उपलक्ष्य में बारह लोगों ने मनुष्य-जीवन का परम आदर्श – संन्यास-आश्रम अंगीकार किया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उन्हें संन्यास दिया। आज मंगलवार को वे लोग ठाकुर के गृही भक्त श्री कुमुद बाबू से एक रुपये की भिक्षा लेकर भाड़े की नाव पर ठाकुर के साधना-स्थल दक्षिणेश्वर गये थे।

बाबूराम महाराज – (उन लोगों की ओर उन्मुख होकर) तुम लोगों ने कल सिर मुड़ाया है, तो क्या सोचते हो कि विधि-निषेध के पार चले गये हो? विधि-निषेध के भीतर से गये बिना, क्या कभी कोई उसके पार जा सकता है? त्यागी संन्यासी ही जगद्गुरु हैं। तुम लोग भी अब जगद्गुरु हो गये न! कल ही संन्यास लिया और आज ही भिक्षा का रुपया लेकर भाड़े की नाव में दक्षिणेश्वर चले गये! क्या यही आध्यात्मिकता है? क्या यही अनुराग है? ठाकुर का साधना-स्थल देखने का यदि इतना ही आग्रह था, तो पैदल बाली तक जाकर, वहाँ से फेरीवाले नाव के मल्लाह से चिरौरी-विनती करके गंगा पार क्यों नहीं हो गये? या फिर तैर कर ही क्यों नहीं गंगा पार कर लिया? या फिर वह भी यदि नहीं कर सकते थे, तो हावड़ा पुल से होकर पैदल दक्षिणेश्वर क्यों नहीं चले गये? ऐसा करने से मैं समझता कि तुम लोग जगद्गुरु होने के उपयुक्त हो! तुम लोग सोचते हो कि

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अन्य शिष्यों की भाँति देवेन्द्रनाथ भी श्रीरामकृष्ण के साथ अपनत्व-भरे और अन्तरंग सम्बन्ध का लाभ लेते थे, परन्तु अन्य बहुतों की अपेक्षा उन्हें उनके साथ अपने सम्बन्ध का स्वरूप जानने का विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दिन देवेन्द्र को उनके स्वप्न का मर्म समझाते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''जानते हो, तुम्हारा भाव वैसा ही है, जैसा गोपियों का कृष्ण के प्रति था। इसीलिए उन्हें ऐसा स्वप्न दिखलायी पड़ा है। तुम बहुत ही भाग्यशाली हो। ऐसे स्वप्न का अर्थ है कि काम-भाव धीरे धीरे सूख रहा है।''[१४] इस प्रकार अपने चित्त का आन्तरिक स्वरूप जान लेने पर देवेन्द्र आध्यात्मिक पथ पर नियमित उन्नति करने लगे, यहाँ तक कि वे एक प्रकार से गोपी-भाव में सराबोर हो गये। वे श्रीरामकृष्णदेव के चिन्तन में पूरी तरह डूब गये और बाद में उनके सन्देश के वे एक बहुत सशक्त माध्यम सिद्ध हुए। उन्होंने कलकत्ते के एण्टाली में 'श्रीरामकृष्ण अर्चनालय' का निर्माण किया था और अपने जीवन के अन्तिम दिन श्रीरामकृष्णदेव के चिन्तन में पूरी तरह से डूबे हुए यहीं पर बिताये थे। ११ सितम्बर, १९११ को उन्होंने अन्तिम साँस ली। ❑❑❑

१४. 'उद्बोधन' (बँगला मासिक), वर्ष २९, संख्या ५, पृष्ठ २६७।

संन्यास लेकर एक मठ की स्थापना करके ठाकुर के भाव का प्रचार करोगे, नहीं तो उनका भाव लुप्त हो जायगा ! हजार मठ करो, या संन्यासी ही बनो, यदि आध्यात्मिकता न रहे, तो कुछ भी न होगा। और जो लोग गृहस्थ हैं, मठ नहीं बनाते, वे भी यदि ठाकुर का आदर्श ग्रहण कर सकें, अपने जीवन द्वारा उसे दिखा सकें, तो गेरुआ न पहनकर भी वे ही पूज्य होंगे। जो ठाकुर का भाव ले सकेगा, वही बड़ा होगा, फिर चाहे तुम संन्यासी होओ, सैकड़ों मठ करो या फिर गृहस्थ ही बनो। मेरा विचार है कि त्याग-वैराग्य रहे बिना गृहस्थों पर जुल्म करना महापाप है !! उनका भाव वे स्वयं ही प्रचार करेंगे और कर रहे हैं। ऐसा मत सोचना कि तुम्हारे संन्यासी होकर उनके भाव का प्रचार न करने पर, उनका प्रचार नहीं होगा। बल्कि तुम लोग अपने को धन्य मानो कि तुम्हें गृहस्थों से भी अधिक सुविधा मिल रही है, इन सब (अखण्डानन्द स्वामी आदि की ओर इंगित करते हुए) जीवन्त महापुरुषों के संग निवास कर रहे हो।

स्वामी अखण्डानन्द – हम छह लोग हृषीकेश की एक झोपड़ी में करीब दो महीने थे। इसे देखकर अन्य साधु लोग विस्मित रह गये थे और हमसे कहते, "महाराज, आप इतने गुरुभाई एक साथ कैसे रहते हैं? हम लोग तो दो गुरुभाई दो दिन भी एक कमरे में लेटते हैं, तो उपाधि लगा देते हैं।" बाद में एक बार मैंने यह बात वृन्दावन में महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी से कही थी। उन्होंने आनन्दित होकर गद्‌गद भाव से कहा था, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है ! तुम लोग तो एक सूत्र में गुँथे हुए हो ! तुम लोगों के गुरु क्या साधु-गुरु या मनुष्य-गुरु हैं? कोई ऐरे-गैरे गुरु होने से क्या कलकत्ते के लड़कों को इस प्रकार तैयार कर पाते? तुम लोगों के इस प्रकार निवास करने में आश्चर्य की क्या बात?" वे (विजयकृष्ण गोस्वामी) उन दिनों दाऊजी के मन्दिर में निवास कर रहे थे। मैं बीच-बीच में उनके पास चाय पीने जाया करता था।

बाबूराम महाराज – "परन्तु मैं सच कहता हूँ, केवल गेरुआ आदि मैं पसन्द नहीं करता, त्याग-वैराग्य चाहिए। नाग महाशय का जीवन मुझे बड़ा अच्छा लगता है। उन्होंने क्या गेरुआ धारण किया था? तो भी वे कितने बड़े त्यागी महापुरुष थे ! इनका जीवन तो अभी हाल ही का है, अधिक दिन नहीं हुए कि भुला दिये जाते।

"इस बार जब ढाका गया, तो लौटते समय नाग महाशय के घर गया था। नाग महाशय के एक मित्र ने बताया कि एक ब्राह्मण उनके घर भागवत पढ़ाने आया करते थे। उनके एक श्लोक पढ़ने के बाद नाग महाशय काफी देर तक उसी की व्याख्या करते। पण्डितों ने भागवत पढ़ा है, परन्तु उन्होंने जीवन्त भागवत देखा है, इसीलिए वह सब उन्हें 'करामलकवत्' (हाथ में रखे आँवले के समान प्रत्यक्ष) प्रतीत होता। उनके पिता ने नाराज होकर कहा, 'क्यों रे, तू पाठ नहीं सुनने देगा? स्वयं ही व्याख्या आरम्भ कर देगा?' नाग महाशय में अपार सहिष्णुता थी, वे चुप रह जाते।"

स्वामी अखण्डानन्द – "सुरेन मुखर्जी (स्वामी प्रेमानन्द भारती) ठाकुर के भक्त थे। बीच-बीच में वराहनगर मठ में आया करते थे। स्वामीजी के बाद उन्होंने अमेरिका आदि में हिन्दू धर्म का प्रचार किया था। एक बार वे कलकत्ते से नाग महाशय के गाँव देवभोग में उनके घर गये। जैसे चैतन्यदेव यह सुनकर कि 'यहाँ की मिट्टी से खोल बनता है' – भावस्थ हो गये थे, उसी प्रकार सुरेन्द्र को देखते ही नाग महाशय ने दोनों हाथ उठाकर 'कलकत्ता-कलकत्ता' कहते कहते भावावेग में नाचना आरम्भ कर दिया था। अर्थात् ये वहीं से आये हैं, जहाँ ठाकुर निवास करते हैं।

"स्वामीजी (विवेकानन्द) ने कितनी कठोर तपस्या की थी ! तुम लोग सुनकर विस्मित रह जाओगे। अमेरिका जाने के पूर्व परिव्राजक होकर जब वे एकाकी भारत-भ्रमण कर रहे थे, तो मैं उनका पीछा कर रहा था। देखा है कि वे १५-२० सेर का एक भूटानी कम्बल और एक थैली में बहुत-सी पुस्तकें साथ रखते थे। लिमड़ी में एक बार वे बड़े कष्ट में थे, तब एक अति निर्धन ब्राह्मण ने उन्हें आश्रय दिया था। वे उनके यहाँ कई दिन थे। उनकी ख्याति सुनकर लिमड़ी के राजा ने उन्हें अपने घर ले जाकर रखने का अनुरोध किया और कहा कि उन्हें भोजन आदि के लिए जो कुछ चाहिए, सब राजभवन से देंगे। परन्तु जिन गरीब ब्राह्मण ने कष्ट के समय उन्हें आश्रय दिया था, उनके मन में कहीं पीड़ा न हो, इसीलिए वे राजभवन नहीं गये। आखिरकार वे जितने दिन वहाँ रहे, राजा उनके लिए प्रतिदिन षोडशोपचार भोग भेजने लगे। वह गरीब ब्राह्मण तक उसे खाकर तृप्त हो जाता।"

❖ (क्रमशः) ❖

अवधूत दत्तात्रेय और उनके गुरु

स्वामी अचिन्त्यानन्द

अवधूत दत्तात्रेय राजर्षि अत्रि के पुत्र थे। भगवान विष्णु के वरदान से उनकी अनुसूया नामक पत्नी के गर्भ से इनका जन्म हुआ था। दुर्वासा तथा चन्द्रमा – इनके दो अन्य भाई थे। ये तीनों भाई क्रमशः विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के अवतार के रूप में प्रसिद्ध हुए। दत्तात्रेय सबसे बड़े थे। बचपन से ही उनके हृदय में ज्ञान तथा वैराग्य के अंकुर दीख पड़े और आयु बढ़ने के साथ-साथ उनके इन गुणों में भी वृद्धि होती गयी। राजर्षि अत्रि के देहावसान के उपरान्त प्रजा ने ज्येष्ठ पुत्र दत्तात्रेय को ही राजसिंहासन पर बैठकर उन्हें राजकाज चलाने का उत्तरदायित्व अर्पित किया। प्रजा के हार्दिक हठ पर उन्होंने वह भार स्वीकार तो किया, परन्तु वे अधिक दिनों तक उस पद पर न रह सके, क्योंकि उनके हृदय में दिन-पर-दिन वैराग्य की अग्नि प्रबलतर होती जा रही थी।

कुछ काल बाद ही वे राजसिंहासन को त्यागकर निःसंग भाव से विचरण करने लगे। जो कोई भी उनकी सौम्य तथा शान्त मूर्ति को देखता, वही मुग्ध हो जाता, इसीलिये कुछ मुनिपुत्र भी अपना-अपना घर छोड़कर उनके साथ हो लिये। अवधूत ने जब देखा कि वे लोग बहुत समझाने-बुझाने पर भी नहीं मान रहे हैं, तो एक बार वे एक जलाशय में प्रविष्ट हो गये और उसी में तीन दिनों तक समाधिस्थ बैठे रहे। तो भी उनके भावों पर मुग्ध बालकों ने उनका साथ न छोड़ा – वे जलाशय के किनारे उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहे। आखिरकार उन्होंने अपनी माया से एक सुन्दरी तथा मदिरा-पात्र का सृजन किया और भोग में लिप्त हो गये। इस पर मुनिपुत्र बहुत नाराज हुए और उनका साथ छोड़कर चले गये।

अब वे निश्चिन्त भाव से एक नग्न अवधूत के वेश में वन-जंगलों में विचरण करने लगे। कभी-कभी वे लोक-समाज में आकर पिपासु जनों के हृदय मन को मनोहर ज्ञानमयी वारि के सिंचन से शान्त कर देते। इन आत्माराम महापुरुष का कोई निश्चित स्थान न था। वे जहाँ भी जाते, जिस भी अवस्था में रहते, परमानन्द में विभोर होकर रहते।

एक बार एक राजा ने उन्हें मदोन्मत्त हाथी के समान जाते हुए देखकर उनसे पूछा, "महाराज, यह आनन्द आपको किन महाज्ञानी की कृपा से प्राप्त हुआ है? कौन-से महापुरुष आपके गुरु हैं?" इसके उत्तर में दत्तात्रेय बोले, "अपनी आत्मा ही मनुष्य का वास्तविक गुरु है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान की सहायता से आत्मज्ञान हो जाने पर ही व्यक्ति को मुक्ति रूपी कल्याण की प्राप्ति होती है। हे राजन, मैंने किसी मनुष्य-विशेष को अपना गुरु नहीं बनाया। मैंने विभिन्न स्थानो से विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त की है। इस कारण हर शिक्षा के कारण को ही मैं अपना गुरु मानता हूँ। इस प्रकार मेरे कुल चौबीस गुरु हुए हैं और उनमें से प्रत्येक से मैंने एक-एक विषय की शिक्षा प्राप्त की है।"

राजा बोले, "देव, कृपया मुझे बतायें कि आपके वे चौबीस गुरु कौन-कौन हैं? और आपने किनसे कौन-सी शिक्षा प्राप्त की है? ताकि मैं भी थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त कर लूँ।" राजा का आग्रह देखकर दत्तात्रेय ने कहा, "हे नृप, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भ्रमर, मधुमक्खी, हाथी, हिरन, मछली, पिंगला गणिका, चील्ह, बालक, कुमारी, सर्प, तीर-निर्माता, रेशम का कीड़ा और भृंगी कीट – ये मेरे चौबीस गुरु हैं।

इनमें से – पृथ्वी से मैंने क्षमा और परोपकार सीखा है। जीवगण निरन्तर कितने ही तरह से अत्याचार करते रहते हैं, परन्तु पृथ्वी वह सब चुपचाप सहन करते हुए, अपने स्वार्थ की जरा भी चेष्टा न करके दिन-रात जीवों के लिये भोग्य सामग्री उत्पन्न कर रही हैं। उनके समान क्षमाशील तथा परोपकारी दूसरा कोई नहीं है, इसीलिये उन्हें सर्वसहा, जननी आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता है। क्षमा तथा परोपकार की शिक्षा पाने के कारण ही मैंने पृथ्वी को गुरु के रूप में स्वीकार किया है।

मेरे दूसरे गुरु जल हैं। जल अत्यन्त स्वच्छ तथा मधुर होता है। उसके ये दोनों गुण कभी जाते नहीं। स्वच्छता तथा मधुरता के गुणों की शिक्षा मुझे जल से मिली है। आत्मा स्वभाव से ही शुद्ध तथा आनन्दमय है, इसलिये हर व्यक्ति को वैसा ही होना चाहिये, क्योंकि वही उसका वास्तविक स्वभाव है और उसी में शान्ति निहित है।

हे राजा, अग्नि के पास पेट के अतिरिक्त दूसरा कोई बर्तन नहीं है। मैंने उससे यही शिक्षा पायी कि पेट ही मेरा एकमात्र पात्र है और भविष्य के लिये संचय करने हेतु मेरे पास दूसरा कोई पात्र नहीं है। इस कारण अग्नि मेरे तीसरे गुरु हैं।

हे नृप, वायु सदा-सर्वदा संचरण करती रहती है, परन्तु वह किसी भी वस्तु के द्वारा कभी लिप्त नहीं होती। शरीर के भीतर रहनेवाली प्राणवायु भोजन पाकर ही सन्तुष्ट रहती है, किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करती। इसी प्रकार मैं भी सर्वदा इधर-उधर भ्रमण करता रहता हूँ, परन्तु कभी किसी विषय में आसक्त नहीं होता, समय पर जो आहार मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहता हूँ, किसी अन्य भोग की इच्छा भी नहीं करता। इस प्रकार वायु को मैंने अपना चौथा गुरु बनाया।

हे नृपति, सर्वव्यापी विशाल आकाश में असंख्य नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य तथा ग्रह आदि और मेघ, वायु आदि निरन्तर स्थित रहते हैं, परन्तु आकाश इनमें से किसी में भी लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा भी सर्वव्यापी तथा अनासक्त है और शरीर-मन आदि के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है – यही शिक्षा मुझे आकाश से मिली है, इसलिये आकाश मेरे पाँचवें गुरु हैं।

हे राजन्, चन्द्र-मण्डल सर्वदा ही पूर्ण है। ग्रहण के समय पृथ्वी का छाया उस पर पड़ती है, इसी से उसमें ह्रास तथा वृद्धि की प्रतीति होती है; इसी प्रकार आत्मा भी सर्वदा पूर्ण है, उसमें कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती। आत्मा के पूर्णता रूप ज्ञान को मैंने चन्द्र-मण्डल से प्राप्त किया है, इसीलिये चन्द्रमा मेरे छठवें गुरु हैं।

हे नृप, सूर्य जैसे अपनी शक्ति के प्रभाव से जल के कणों को आकृष्ट करके फिर वर्षा के रूप में उनका त्याग कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करके फिर उनका त्याग कर देता है, परन्तु स्वयं विकार को नहीं प्राप्त होता। यही शिक्षा मुझे अपने सातवें गुरु सूर्य से प्राप्त हुई है।

हे राजन्, एक बार एक कबूतर तथा कबूतरी के अति प्रिय बच्चे एक बहेलिये के जाल में फँस गये। कबूतरी ने अपनी सन्तानों के लिये शोकोन्मत्त होकर स्वेच्छापूर्वक उसके जाल में आत्म-समर्पण कर दिया। इसे देखकर नर कपोत भी अपनी पत्नी तथा पुत्रों के शोक सहने में असमर्थ होकर व्याध के जाल में कूद पड़ा। व्याध एक साथ ही कई पक्षियों को पाकर बड़े आनन्दपूर्वक घर लौटा। इसे देखकर मैं समझ गया कि जागतिक स्नेह का कैसा विषमय फल होता है और यह भी स्पष्ट रूप से समझ गया कि यह स्नेह ही जीव के जन्म तथा मृत्यु का कारण है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसका त्याग ही उत्तम है। कपोत-कपोती से मैंने यही शिक्षा प्राप्त की, इसीलिये ये दोनों मेरे आठवें गुरु हैं।

हे नरपति, जैसे अजगर एक ही जगह पड़ा रहता है और उसके भाग्य से जो भी प्राणी उसके पास आ पहुँचता है, उसी का भोजन करके वह अपना जीवन धारण करता है। इससे अधिक वह पाने या संचय करने की भी चेष्टा नहीं करता। मैं भी इसी प्रकार स्वयं प्राप्त हो जानेवाले भोजन में ही सन्तुष्ट रहता हूँ। संचय करने की कोई इच्छा नहीं करता। यह शिक्षा मुझे अजगर से मिली है, इसलिये वे मेरे नवें गुरु हैं।

असंख्य नदी-नाले जाकर समुद्र में विलीन हो जाते हैं, परन्तु समुद्र अपना रूप नहीं त्यागता, इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी निरन्तर अगणित वस्तुओं के सम्पर्क में आकर भी अपने स्वभाव से विचलित नहीं होते – यही शिक्षा मुझे अपने दसवें गुरु समुद्र से प्राप्त हुई है।

हे राजन्, पतंगा जैसे रूप के आकर्षण से अग्निकुण्ड में कूदकर अपना सर्वस्व लोप कर देता है, उसी प्रकार सुन्दरी स्त्री के रूप से मुग्ध मनुष्य भी आत्मविह्वल हो जाता है और अपना सत्यानाश कर लेता है। इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है – सर्वदा अपने मन को आत्मा में लीन रखना। मुझे पतंगे से यही शिक्षा मिली है, इसलिये पतंगा मेरा ग्यारहवाँ गुरु है।

हे नृप, जैसे भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर रस ग्रहण करता है, वैसे ही मैं भी गृहस्थों के घर-घर में जाकर अपना पेट भरता हूँ। जिस मधुकर से मुझे इस माधुकरी वृत्ति की शिक्षा मिली है, वह मेरा बारहवाँ गुरु है।

देखो, मधुमक्खी कितना परिश्रम करके मधु का संचय करती है, परन्तु कोई मनुष्य सहसा आकर वह सब लूटकर ले जाता है; इसी प्रकार मनुष्य भी आजीवन परिश्रम करके धन-रत्नों का संचय करता है, परन्तु काल आकर उसे उसके परम प्रिय धन-सम्पदा से दूर ले जाता है। इससे मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि संग्रह में महान् दु:ख है और यह शिक्षा प्रदान करनेवाली मधुमक्खी मेरी तेरहवीं गुरु है।

जिस प्रकार कामान्ध हाथी काठ की बनी हुई हथिनी के साथ भोग की इच्छा में मतवाला होकर गहरे कुएँ में गिर जाता है। इसके बाद उसे पराधीन होकर जंजीर से बँधकर रहना पड़ता है और अंकुश का आघात सहते हुए बड़े कष्ट का जीवन बिताना पड़ता है, इसी प्रकार कामातुर व्यक्ति भी भोग-लालसा के वशीभूत होकर घोर संसार-कूप में गिर जाता है, अत: इसका त्याग करना ही उत्तम है – यह शिक्षा मुझे हाथी रूपी चौदहवें गुरु से प्राप्त हुई।

शिकारी के मधुर संगीत-ध्वनि से आकृष्ट होकर हिरन को अपना प्राण दे देना पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष भी रमणियों के मधुर कण्ठ-स्वर से मुग्ध होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है – इसीलिये ऐसे मधुर गीतों से सर्वथा दूर रहना ही उचित है – हिरन से मुझे यही शिक्षा मिली है, अत: वह मेरा पन्द्रहवाँ गुरु है।

भोजन के लोभ में ही मछली कटियाँ में फँसकर अपने प्राण खो देती है, इसी प्रकार मनुष्य भी जिह्वा के लोभ में पराधीन होकर बहुत दु:ख भोगता है। जिह्वा का लोभ त्याग कर देने से ही शान्ति मिलती है – यह शिक्षा देनेवाली मछली मेरी सोलहवीं गुरु है।

हे राजन्, किसी नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या थी। एक बार वह सारी रात बड़े उत्कण्ठित चित्त के साथ किसी ग्राहक के आने की आशा में बाट जोहती रही। इसी प्रकार चिन्ता में आधी रात बीत जाने पर भी किसी के न आने पर

वह स्वयं को धिक्कारते हुए कहने लगी, ''विषय-सुख की आशा में मैं जैसी उद्विग्न हूँ, वैसी ही यदि भगवत्-प्राप्ति के के लिये होती, तो मुझे न जाने कितना सुख मिलता !'' ऐसा सोचकर वह धन तथा काम की आशा त्याग घर के भीतर जाकर निश्चिन्त भाव से सो गयी। आशा-त्याग की यह शिक्षा मुझे उसी से मिली थी, अत: वही मेरी सत्रहवीं गुरु है।

एक बार एक चील्ह माँस का एक टुकड़ा मुख में लिये हुए उड़कर चली जा रही थी। उसे देखकर अन्य पक्षियों ने उसे छीनने के लिये उस पर धावा बोल दिया और उसके पास जाकर बारम्बार उस पर प्रहार करने लगे। इससे तंग आकर उसने मांस के टुकड़े को छोड़ दिया, तब अन्य पक्षी भी उसे छोड़कर चले गये। मनुष्य भी जब तक इसी प्रकार विषय-भोगों को पकड़े रहता है, तब तक उसे चोर-डाकुओं आदि का आक्रमण झेलना पड़ता है, परन्तु भोग्य विषयों का त्याग करते ही उसे शान्ति मिल जाती है। यह शिक्षा मुझे चील्ह से मिली है, इसलिये वह मेरी अठारहवीं गुरु है।

जैसे माँ का स्तन पीनेवाला शिशु निश्चिन्त मन से स्तन-पान करके आनन्द में विभोर रहता है, उसी प्रकार मैं भी भिक्षा में प्राप्त भोजन को ग्रहण करके निश्चिन्त मन से आनन्द -पूर्वक विचरण करता रहता हूँ। इसकी शिक्षा देने के कारण शिशु मेरा उन्नीसवाँ गुरु है।

हे राजन्, एक बार मैं किसी गाँव में एक गृहस्थ के घर भिक्षा लेने के लिये गया था, उसी घर में एक अन्य भिक्षुक ने आकर भिक्षा के लिये याचना की। घर में एक कुवाँरी कन्या को छोड़ अन्य कोई भी न था। वह धान कूट रही थी, अत: भिक्षुक को थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ रही थी। बाहर द्वार पर भिक्षुक खड़ा था और भीतर कन्या धान कूट रही थी। वह अपने हाथों में कुछ कंगन पहने हुए थी। धान कूटते समय कंगनों की ध्वनि बाहर जाने के कारण लज्जा-बोध से वह एक-एक कंगन को उतारकर किनारे रखने लगी। अन्ततः हाथों में दो-दो कंगन रह जाने पर भी उनसे आवाज होते देख उसने और एक-एक कंगन निकाल दिये। इसके बाद उससे ध्वनि निकलना बन्द हो गया। यह देखकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अनेक लोगों के साथ रहने पर कलह-विवाद होता रहता है। दो लोग साथ रहें, तो भी तरह-तरह के विषयों पर चर्चा होती रहती है। इसलिये जैसे कुमारी के हाथों के कंगन ने अकेले रहकर ही आवाज बन्द की थी, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति एकाकी रहकर ही अन्य बातों का त्याग करते हैं। कुमारी से मुझे एकाकी रहने की शिक्षा मिली थी, इसलिये वह भी मेरी एक गुरु है।

साँप स्वयं अपने लिये घर नहीं बनाता, अपितु दूसरों के बनाये हुए घर में निवास करता है, इसी प्रकार मैंने भी अपने लिये घर नहीं बनाया। मैं दूसरों द्वारा निर्मित मन्दिर आदि में या भगवान द्वारा निर्मित पर्वत की गुफाओं में निवास करता हूँ। यह शिक्षा देने के कारण सर्प भी मेरा एक गुरु है।

हे राजन्, किसी स्थान पर एक व्यक्ति धनुष-वाण बना रहा था। वह उसी कार्य में इतना तन्मय हो गया था कि उसके पास से होकर राजा की सेना गुजर गयी, परन्तु वह उसे देख नहीं सका। मैंने उस व्यक्ति से एकाग्रता की शिक्षा पायी, अत: वह भी मेरा गुरु है।

रेशम का कीड़ा अपने शरीर से रस निकालकर अपने ही शरीर के चारों ओर लपेटता रहता है और क्रमश: वह रस ही रेशम में परिणत हो जाता है, परन्तु निरन्तर रस निकालते रहने के कारण वह रेशम के बीच इतना अधिक उलझ जाता है कि उससे बाहर नहीं निकल पाता और उसी में प्राण त्याग देता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी इच्छाओं के भीतर इतना उलझ जाता है कि उनसे बाहर नहीं निकल पाता – अत: इच्छाओं के त्याग के सिवा मनुष्य के बचने का दूसरा कोई उपाय नहीं है – यह तत्त्व मैंने रेशम के कीड़े से सीखा है, इसीलिये मैं उसे भी अपना गुरु मानता हूँ।

भृंगी कीट अपने भोजनार्थ किसी कीड़े को लाकर अपने घर में बन्द करके रख देता है। वह कीड़ा निरन्तर भृंगी की आवाज सुनते हुए और उसी का चिन्तन करते हुए स्वयं भी भृंगी बन जाता है। तब वह भृंगी के भय से मुक्त होकर स्वच्छन्द उड़ जाता है। मैं भी इसी प्रकार प्रतिक्षण अपने स्वरूप का ध्यान करता हुआ भयमुक्त होकर अपने आत्मरूप को प्राप्त हुआ हूँ। अपने शरीर के मोह से मुग्ध नहीं हुआ। इस मोहत्याग की शिक्षा के लिये भृंगी मेरा गुरु है।

हे नृप, इस प्रकार मैंने चौबीस गुरुओं से शिक्षा पाकर अपने स्वरूप में स्थित होकर आत्मानन्द को प्राप्त किया है और जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरण कर रहा हूँ। मैं सर्वदा निश्चिन्त रहकर निर्द्वन्द अवस्था में विराजमान हूँ।

दत्तात्रेय के उपदेशों को सुनकर राजा को भी ज्ञान हुआ और यथाकाल वे भी मोहमुक्त होकर आत्मज्ञान के अधिकारी हुए। अवधूत साल के आठ महीने निरन्तर विचरण करते रहते थे, अनासक्त तथा आनन्दमय पुरुष के रूप में सतत प्रवाहित स्वच्छ जल के समान जगह-जगह भ्रमण करते रहते थे, तथापि वर्षा के चार महीने वे जिस-जिस एक ही स्थान पर निवास करते, वे स्थान आज भी उनके नाम पर महातीर्थों के रूप में विख्यात हैं। इन स्थानों की यात्रा करके और उनका स्मरण करके असंख्य लोगों ने पवित्रता प्राप्त की है। उनके द्वारा रचित अवधूत-गीता नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध तथा उपयोगी ग्रन्थ है। ऐसा कोई भी वैराग्यवान् साधु नहीं होगा, जो उस ग्रन्थ का आदर न करता हो। इसके द्वारा सच्चे ज्ञान-पिपासु की पिपासा शान्त हो जाती है। ❑

मानव जीवन का लक्ष्य

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य जीवन पर यदि हम एक विहगंम दृष्टि भी डालें, तो हम पायेंगे कि हमारा जीवन एक अविरल, अविश्रान्त बहने वाली धारा है। मनुष्य जीवन की इस अविरल धारा को कोई भी व्यक्ति रोकने में समर्थ नहीं है। मातृगर्भ में आते ही जीवन धारा प्रवाहित होना प्रारम्भ करती है तथा मृत्यु में ही इसका अन्त होता है। इस क्रम में कोई अपवाद नहीं है।

तब क्या मृत्यु ही हमारे जीवन का अन्त है? क्या मृत्यु ही मानव जीवन का लक्ष्य और प्रयोजन है?

नहीं, यद्यपि मनुष्य मृत्यु को टाल नहीं सकता, किन्तु यदि व्यक्ति विचार-विवेकपूर्वक अपने जीवन के लिए एक ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर ले, जो तात्कालिक इन्द्रिय सुखों से ऊपर उठकर जीवन के महान् नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष के अनुसंधान में लग जाये तथा केवल शारीरिक या भौतिक स्तर पर ही जीवन की धारा बहने न लगे, तो मृत्यु के पूर्व ही इसी जीवन में वह एक शाश्वत आनन्द की प्राप्ति कर सकता है।

मनुष्य का जीवन एक महान् शक्ति और ऊर्जा का घनीभूत पुंज है, जो निरन्तर आगे की ओर प्रवाहित हो रहा है और यदि इसे एक निश्चित दिशा नहीं दी गई, तो वह बहते हुए एक दिन निरर्थक मृत्यु के रूप में समाप्त हो जाता है। जीवन का यह शक्ति और ऊर्जा का पुंज व्यर्थ और निरर्थक समाप्त न हो जाय, इसके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन के लिए ऐसा एक महान लक्ष्य निर्धारित कर लें, जिसकी प्राप्ति के लिये हम इस शक्ति और ऊर्जा का सदुपयोग कर सकें।

संसार के सभी देशों तथा सभी कालों में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबकी ही मृत्यु तो हुई है। किन्तु अपने जीवन काल में मानवता के, जगत कल्याण के जो महान कार्य उन लोगों ने किये, उसके फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से मृत्यु को प्राप्त होकर भी, ये आज भी अमर हैं तथा संसार के कोटि-कोटि मनुष्यों के जीवन में स्मृति और प्रेरणा के रूप में जीवित हैं।

भगवान राम, भगवान कृष्ण, भगवान बुद्ध, भगवान महावीर, भगवान ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद तथा और भी असंख्य महापुरुष इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

अत: जीवन की सफलता के लिए इसी जीवन में सार्थकता तथा सुख और शान्ति की उपलब्धि के लिए हमें यथाशीघ्र अपने जीवन के लिए एक महान लक्ष्य निर्धारित कर लेना चाहिए। हमारा जीवन ऐसा हो जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ और सुखों से ऊपर उठकर समस्त संसार के कल्याण, उन्नति और सुख के लिये समर्पित हो।

ऐसा उदात्त लक्ष्य व्यक्ति के हृदय का तत्काल विकास और विस्तार करना प्रारम्भ कर देता है। मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं संकुचित व्यक्तिगत इन्द्रिय सुखों से ऊपर उठकर जगत के हित, कल्याण और सुखों से स्वयं के हृदय को जोड़ने लगता है। दूसरे शब्दों में उसके हृदय का विस्तार होने लगता है। और जैसा कि स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि विस्तार (हृदय का विस्तार) ही जीवन है एवं संकोच (हृदय की क्षुद्रता) ही मृत्यु है।

जीवन का लक्ष्य निर्धारित करते समय हमें जीवन एवं जीविका के अन्तर की ओर सावधानीपूर्वक दृष्टि रखनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को सुख एवं सम्मानपूर्वक जीने के लिये उचित एवं न्यायपूर्ण जीविका अर्जन करने का उपाय अवश्य करना चाहिए। फिर वह कोई व्यवसाय करे, नौकरी करे, खेती आदि करे या अन्य कोई भी कार्य करे, जिससे उसके जीवन-यापन के लिए स्वयं तथा परिवार का भरण-पोषण, अपने तथा परिवार के लिए आवास आदि की व्यवस्था एवं जीवन की अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था सम्मिलित है।

यहाँ व्यक्ति को यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि इसके जीवन की सम्पूर्ण ऊर्जा और समय केवल जीविका-अर्जन में ही न लग जाए। हृदय के विस्तार तथा जगत हित के कार्यो के लिए उसके पास समय ही न बच पाये। इसके लिये यह परम आवश्यक है कि व्यक्ति संतुलित जीवन व्यतीत करे तथा विलासिता एवं इन्द्रियों की उच्छृंखलता से सदैव अपने को दूर रखे।

यह तभी संभव है जब मनुष्य यह स्मरण रखे कि वह हाड़-मांस का पुतला एक भौतिक पदार्थ मात्र नहीं है। भौतिकता से भिन्न मनुष्य के भीतर एक आध्यात्मिक तत्त्व है। नि:स्वार्थता, पवित्रता एवं जगतहित के शुभ कार्यों से मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना जाग्रत होकर विकसित एवं वर्धित होती है। इस आध्यात्मिक चेतना का अनुभव करके ही मनुष्य का जीवन सफल एवं धन्य होता है। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। ❑❑❑

'रामनाम-संकीर्तन' का इतिहास (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

आज रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तथा इसकी भावधारा से अनुप्राणित सैकड़ों केन्द्रों में प्रति एकादशी के दिन 'राम-नाम-संकीर्तन' या 'नाम-रामायणम्' का अत्यन्त उत्साहपूर्वक सहगान किया जाता है। लगभग एक शताब्दी पूर्व (१९१० ई. में) रामकृष्ण संघ के प्रथम अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी 'महाराज' ने इसका संकलन किया और मठ तथा मिशन के केन्द्रों में इसके गायन की परम्परा शुरू की। इस 'संकीर्तन' का संकलन कैसे हुआ? इसे कैसे प्रचारित किया गया? और इसके रचयिता कौन हैं? इसका वर्तमान रूप कब तथा कैसे निर्धारित हुआ? आदि तथ्यों पर हम यथासम्भव चर्चा करेंगे।

बैंगलोर में पहली बार सुना

कथा की शुरुआत होती है १९०९ ई. से। उसी वर्ष के प्रारम्भ में वर्तमान कर्नाटक के बैंगलोर नगर में श्रीरामकृष्ण आश्रम का निर्माण सम्पन्न हुआ। उसका उद्घाटन करने को रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष 'महाराज' (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) ने बैंगलोर की यात्रा की। २० जनवरी को आश्रम-स्थापना के दिन 'महाराज' की अध्यक्षता में एक विराट् सभा हुई, जिसमें मैसूर राज्य के दीवान और स्वामी रामकृष्णानन्द का व्याख्यान होने के बाद 'महाराज' ने समयोपयोगी दो-चार बातें कहकर आश्रम का उद्घाटन सम्पन्न किया। बैंगलोर में उनका दर्शन करके सभी लोग मुग्ध हुए और उनके सम्पर्क से तथा उपदेश सुनकर सबने कृतार्थ अनुभव किया।

आश्रम-उद्घाटन के उपलक्ष्य में वहाँ के मोची तथा अन्य अस्पृश्य वर्गों के कुछ भक्त हर रविवार को आश्रम में आकर बड़े हॉल में सम्मिलित रूप से प्रार्थना तथा उपासना किया करते थे और बाद में श्रीरामकृष्ण के विग्रह के समक्ष 'राम-नाम-संकीर्तन' गाने के बाद 'महाराज' की चरण-वन्दना करते थे। 'महाराज' उन्हें देखकर खूब आनन्दित होते। उनके प्रति 'महाराज' का उदार तथा सस्नेह व्यवहार को देखकर अनेक ब्राह्मण भक्तों के हृदय से निम्न जातियों के प्रति उनका संस्कारगत अवज्ञा तथा विद्वेष का भाव दूर हो गया था।[1]

बैंगलोर में 'महाराज' जिस 'रामनाम-संकीर्तन' या 'नाम-रामायणम्' सुनकर मुग्ध हुए थे, उसे उन्होंने बंगाल में भी लोकप्रिय बनाने के लिये विशेष आग्रह व्यक्त किया। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार इच्छा व्यक्त की थी कि सम्पूर्ण भारत और विशेषकर बंगाल के घर-घर में त्याग-भक्ति एवं ज्ञान के प्रतीक श्री हनुमानजी की पूजा होनी चाहिये। इसी सूत्र से 'महाराज' के मन में इस 'रामनाम-संकीर्तन' के साथ-साथ महावीरजी की पूजा भी प्रचारित करने की इच्छा हुई। उन्होंने स्वामी अम्बिकानन्द को वह संकीर्तन लिपिबद्ध करके नये सुरों तथा संगीत से सजाने को कहा। वहाँ कुछ और दिन बिताने के बाद 'महाराज' मद्रास-मठ लौट आये।[2]

पुरी में स्वर-संयोजन

१९०९ ई. की मई में 'महाराज' मद्रास से पुरी लौट आये और शशी-निकेतन में निवास करने लगे। बैंगलोर से वे जो 'रामनाम-संकीर्तन' लिखाकर लाये थे, उसमें प्रार्थना और स्तव जोड़ा गया। स्वामी अम्बिकानन्द द्वारा सुर-ताल से युक्त करने के बाद शशी-निकेतन के विशाल सभागार में मठ के साधु-ब्रह्मचारियों द्वारा समवेत स्वर में 'महाराज' के समक्ष इसका सर्वप्रथम गायन प्रस्तुत किया गया। बाद में एक दिन पुरी के मुख्य मन्दिर में भी 'संकीर्तन' हुआ। पुरी के गणमान्य शिक्षित तथा धर्मप्राण लोग उसे सुनकर बड़े मुग्ध हुए थे।[3]

बेलूड़ मठ में प्रथम प्रस्तुति

१९१० ई. के करीब मध्य में 'महाराज' पुरी से बेलूड़ मठ लौटे। ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य लिखते हैं, "दक्षिण से 'महाराज' 'नाम-रामायण' लेकर बेलूड़ मठ लौटे हैं। मठ में पहली बार सुर के साथ उसे गाया जायेगा, उसी का आयोजन हो रहा है। शाम के समय मठ का प्रांगण लोगों से भरा हुआ है। गिरीश बाबू और मास्टर महाशय भी उपस्थित हैं।"[4] साधु-ब्रह्मचारियों ने मठ-प्रांगण में हार्मोनियम आदि वाद्यों के साथ सुर-तान-लय के साथ यह 'संकीर्तन' गाया। अनेक भक्त नर-नारियों ने मंत्रमुग्ध होकर परम आनन्द के साथ इस नवीन कीर्तन को सुना।[5] श्री बलराम बोस के पुत्र रामकृष्ण बोस की डायरी से ज्ञात होता है कि वह १३ मार्च १९१० का दिन और ठाकुर की जन्मतिथि थी। "गिरीशबाबू, मास्टर महाशय, पुलिन बाबू, पूर्णबाबू, श्याम तथा और भी बहुत लोग आए हैं। 'महाराज' के साथ रामनाम-संकीर्तन में अनेक लोग सम्मिलित हुए।... खूब आनन्द का स्रोत चला।"[6]

नारद-भक्तिसूत्र में लिखा है, **संकीर्तमानः शीघ्रम्-आविर्भवति आनुभावयति भक्तान्** – जहाँ भगवान का नाम-संकीर्तन होता है, वहाँ उनका शीघ्र आविर्भाव होता है, यह वे भक्तों को अनुभव कराया करते हैं। उस दिन मठ के प्रांगण में

१. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), उद्बोधन कार्यालय, तृ. सं., पृ. २४३

२. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), उद्बोधन कार्यालय, तृ.सं., पृ. २३८-९ (आगे 'स्वामी ब्रह्मानन्द'); ३. वही, पृ. २७७

४. ब्रह्मानन्द-लीलाकथा (बँगला), ब्र. अक्षय चैतन्य, तृ.सं., पृ. ८४

५. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), पृ. २८०

६. स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, नागपुर, पृ. ३७३

'महाराज' आदि की उपस्थिति में वैराग्यवान शुद्धसत्त्व साधु-ब्रह्मचारियों के भक्ति-रसाप्लुत स्वर में 'रामनाम-संकीर्तन' गाये जाने से एक अपूर्व भाव-माधुर्य का स्रोत प्रवाहित हुआ था। बेलूड़ मठ में यह 'रामनाम-संकीर्तन' सुनकर हजारों भक्त नर-नारी उसे सीखने के लिये व्याकुल हुए।[७]

अंग्रेजी 'प्रबुद्ध-भारत' मासिक के अप्रैल, १९१० के अंक में (पृ.७५) इस दिन का विस्तृत समाचार प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि २० मार्च को सार्वजनिक उत्सव के दिन भी यह संकीर्तन गाया गया था। समाचार के मुख्य अंशों का अनुवाद इस प्रकार है – "बेलूड़ मठ में १३ मार्च को भगवान श्रीरामकृष्ण की ७७ वीं जन्मतिथि और २० मार्च को सार्वजनिक उत्सव मनाया गया। सौभाग्य से इस वर्ष तिथिपूजा रविवार को पड़ी थी, इसलिये बहुत-से छात्रों तथा भावधारा को समर्पित अनेक लोगों को इस उत्सव में भाग लेने का अवसर मिला।... लगभग एक हजार भक्तों ने संगीतकारों द्वारा गाये गये भक्ति-संगीत का रसास्वादन किया।... हमारे श्रद्धेय अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी की उपस्थिति से सबके आनन्द में वृद्धि हो गयी थी। इस अवसर पर उन्होंने रामनाम-संकीर्तन के गायन को पहली बार प्रस्तुत कराया, जिसने अनेक भावुकतापूर्ण हृदयवाले लोगों को मंत्रमुग्ध कर लिया। इसमें सरल संस्कृत छन्द में, श्रीरामचन्द्र के सम्पूर्ण लीलाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है, जिसे वाद्यों के साथ आसानी से सहगान के रूप में गाया जा सकता है।... २० तारीख को सार्वजनिक उत्सव में अत्यधिक लोगों के भाग लेने से इसमें जो भव्यता तथा उत्साह देखने में आयी, वैसी कभी नहीं आयी थी। आनेवालों की संख्या पचास हजार के ऊपर रही होगी।... विभिन्न संकीर्तन-टोलियों ने घूम-घूमकर बड़े उत्साहपूर्वक गायन किया।... अन्दूल की विख्यात काली-कीर्तन टोली और मठ के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया 'राम-नाम-संकीर्तनम्' काफी प्रशंसित हुआ।"

बाद में 'महाराज' ने इस 'संकीर्तन' को बेलूड़ मठ की ओर से एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी कराया था, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ था। इसी पुस्तिका की १९११ ई. में प्रकाशित संस्करण की भूमिका में 'महाराज' ने लिखा था, "दो वर्ष पूर्व दक्षिण भारत का भ्रमण करते समय मैं दक्षिणी लोगों के मुख से यह 'रामनाम-संकीर्तन' सुनकर मुग्ध हो गया था। हमारे देश में इसका अभ्यास तथा प्रचार बढ़े, इस उद्देश्य से पुस्तिका के रूप में इसका प्रकाशन तथा मठ में इसके प्रथम संकीर्तन का प्रयास किया गया है। यह आनन्द का विषय है कि आज देश के विभिन्न स्थानों में इसका आदर तथा गायन हो रहा है। अत: इसका मूल उद्देश्य यदि पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं हुआ, तो भी उसके आंशिक रूप से सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है। पुस्तक की बढ़ती हुई माँग को देखकर भी यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। इस अल्प काल में ही इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। आशा है कि आन्तरिक भाव के साथ इसके पाठ से भगवद्-भक्ति की वृद्धि में सहायता मिलेगी।

"पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी की इच्छा थी कि देश मे ब्रह्मचर्य-मूर्ति श्री महावीरजी की उपासना का प्रवर्तन हो। इसीलिये हम लोगों ने मठ में इस नाम-संकीर्तन के पहले श्री महावीर हनुमानजी की आराधना का नियम किया है। अनुरोध है कि दूसरे लोग भी इसका पालन करें और अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करते हुए भगवत्-प्रीति के अधिकारी होकर जन्मभूमि को धन्य और पवित्र करें – यही हमारे हृदय की निश्छल प्रार्थना है।"[८]

नाम-रामायण का प्रचार

जैसा कि हम बता चुके है कि 'महाराज' की हार्दिक इच्छा थी कि सम्पूर्ण भारत में इसका प्रचार हो। इसके लिये वे जहाँ भी जाते, इस 'संकीर्तन' का आयोजन करते। उनकी जीवनी तथा संस्मरणों में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख है। १९११ ई. की १३ फरवरी को 'महाराज' रामकृष्णपुर में श्यामबाबू के घर एक उत्सव में भाग लेने गये और वहाँ 'रामनाम' तथा रात में रामायण-गान हुआ।[९]

वाराणसी में संकीर्तन का श्रीगणेश

महाराज ने १९१२ ई. में दीपावली के पूर्व (नवम्बर में) वाराणसी जाकर अप्रैल १९१३ तक करीब छह माह और उसी वर्ष ४ अक्तूबर को वहाँ जाकर २६ नवम्बर १९१४ तक – कुल मिलाकर करीब डेढ़ वर्ष का समय बिताया था। इस दौरान इस संकीर्तन को लेकर कई घटनाएँ हुईं और दोनों आश्रमों में नियमित रूप से हर पखवारे इसके गायन की परम्परा शुरू हुई। इस विषय में स्वामी वरदानन्द लिखते हैं, "१९१२-१३ की बात है। 'महाराज' की इच्छानुसार काशी के दोनों आश्रमों में रामनाम-संकीर्तन की व्यवस्था हुई – एकादशी को सेवाश्रम में और अमावस्या-पूर्णिमा को अद्वैत आश्रम में। उस समय महावीर के लिये एक आसन और उस पर संकीर्तन की एक पुस्तिका भी रख दी जाती थी।[१०]

हनुमानजी का साक्षात् प्राकट्य

'महाराज' के जीवन के कई प्रसंगों से पता चलता है कि 'नाम-रामायण' के इस गायन के समय हनुमानजी भी छद्मवेश में उपस्थित होते थे, परन्तु उन्हें केवल 'महाराज' ही पहचान

७. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), उद्बोधन कार्यालय, तृ.सं., पृ. २८१

८. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), पृ. ३१६; **९.** स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, पृ. ३७४; **१०.** ब्रह्मानन्द-लीलाकथा (बँगला), ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य, कोलकाता, तृ. सं. (१३९५) , पृ. ४९-५०

पाते थे और कभी-कभी वे लोगों को बता भी दिया करते थे।

नरोत्तमानन्द बताते हैं कि 'महाराज' के वाराणसी-निवास के दिनों में ही कलकत्ते से छपकर 'रामनाम-संकीर्तन' पुस्तक की कुछ प्रतियाँ आयी हुई थीं। आश्रम के साधु-ब्रह्मचारी बड़े उत्साहपूर्वक संकीर्तन किया करते थे। एक एकादशी के दिन संध्या को यथाविधि श्रीराम, जानकी, महावीर तथा श्रीरामकृष्ण के चित्र रखकर नैवेद्य का भोग लगाकर आरती कर ली गयी। आरती के बाद सबने साष्टांग प्रणाम किया और स्तवपाठ आरम्भ किया। उसी समय 'महाराज' सहसा हड़बड़ा कर आसन से उठ खड़े हुए और एक अन्य आसन लाने को कहा। आसन को बिछा कर उस पर एक पुस्तिका रख दी गयी। बाद में महाराज ने बताया था – महावीरजी स्वयं कीर्तन सुनने आये थे, इसीलिये उन्होंने आसन देने को कहा था।[११] स्वामी वीरेश्वरानन्दजी कहते हैं, "जहाँ तक मुझे स्मरण है, वाराणसी में एक बार 'रामनाम' शुरू होने के काफी पहले – अन्य लोगों के आने के पूर्व ही महाराज ने एक वृद्ध को आते हुए देखा था। उसके बाद 'रामनाम' होने के बाद अन्य लोगों के निकलने के पूर्व ही वे वृद्ध जा चुके थे। महाराज समझ गये थे कि वे वृद्ध महावीर हनुमान ही थे। उसी दिन से उन्होने रामनाम के समय अतिथि महावीरजी के लिये एक आसन लगाने की प्रथा आरम्भ कर दी थी।[१२]

१९२१ ई. के ४ मार्च को भी ऐसी ही घटना हुई, जब स्वामी तुरीयानन्दजी, सारदानन्दजी और करीब ७० साधु-भक्तों के साथ 'महाराज' गोस्वामी तुलसीदास की साधनभूमि – संकटमोचन मन्दिर में गये। वहाँ वाद्यों के साथ रामनाम-संकीर्तन के समय एक सघन आध्यात्मिक परिवेश की रचना हुई थी। तब भी एक वृद्ध ब्राह्मण के वेश में महावीरजी का दर्शन पाकर सभी लोग धन्य हो गये।[१३] इस दिन का एक अन्य विवरण में ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य लिखते हैं, "एक दिन दोनों आश्रमों के सभी लोग मिलकर कई इक्कों में बैठकर संकटमोचन गये। मन्दिर के बरामदे में नीरद महाराज, विश्वरंजन महाराज तथा मैं महावीर की ओर मुख करके बैठे थे और बाकी सभी लोग दोनों ओर पूर्व-पश्चिम की ओर मुख करके बैठे थे। कीर्तन खूब जम गया। एक गौरवर्ण के व्यक्ति – लम्बे केश-दाढ़ी से युक्त श्वेत उज्ज्वल चेहरा, सफेद मोटे चादर से पूरा शरीर ढँका हुआ – महावीर के मन्दिर के द्वार के पास बाहर की ओर, पूर्व की ओर मुख किये पश्चिमी किनारे पर कुछ-कुछ 'महाराज' के आमने-सामने होकर बैठे। संकीर्तन पूरा होते ही वे उठकर चले गये। मेरा ध्यान कई बार उनकी ओर आकृष्ट हुआ था। महाराज बोले, 'महावीर का साक्षात् आविर्भाव हुआ था। जो गौरवर्ण के वृद्ध बैठकर सुन रहे थे, वे ही हनुमानजी थे।" इस पर कई लोग हनुमानजी को ढूँढने इधर-उधर दौड़े, परन्तु वहाँ वटवृक्ष के ऊपर कुछ बन्दरों के अतिरिक्त और कोई देखने में नहीं आया।"[१४] संकट-मोचन में आयोजित वह 'राम-नाम-संकीर्तन' फाल्गुन शुक्ला एकादशी को पहली बार सम्पन्न हुआ था। 'महाराज' की इच्छानुसार तभी से वहाँ प्रति-वर्ष उसी तिथि पर 'रामनाम-संकीर्तन' किया जाता है।[१५]

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में (सर्ग १०८/३५-३६) भगवान श्रीरामचन्द्र के लीला-संवरण तथा वैकुण्ठ लोक जाने का सविस्तार वर्णन आता है। उस समय उन्होने हनुमानजी को आदेश देते हुए कहा था, "जब तक इस संसार में मेरी कथाओं का प्रचार रहे, तब तक तुम प्रसन्नतापूर्वक इस पृथ्वी-तल पर विचरण करते रहो। हनुमानजी ने भी प्रभु के इस आदेश को शिरोधार्य करते हुए कहा था –

यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्॥

यही कारण है कि जहाँ कहीं भी श्रीराम का नाम-संकीर्तन होता है, वहाँ वे सजल नेत्रों के साथ जो अपने हाथों को जोड़कर मस्तक से लगाये हुए साक्षात् विराजमान रहते हैं –

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्॥
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

१९१४ ई. की श्रावणी पूर्णिमा को 'महाराज' झूलन-लीला देखने अपनी टोली के साथ काशी से अयोध्या गये। वहाँ उन्हें इच्छा हुई कि हनुमानगढ़ी-मन्दिर में श्री महावीरजी के सामने रामनाम-संकीर्तन करेंगे। तदनुसार उनके साथ गये हुए समस्त साधु ब्रह्मचारियों ने मिलकर वहाँ संकीर्तन आरम्भ किया। संकीर्तन सुनते हुए 'महाराज' गहरे भाव में डूब गये और उनकी इस तन्मयता के फलस्वरूप साथ आये सभी लोगों ने एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव किया। वहाँ पाँच दिन बिता कर महाराज पुनः वाराणसी लौट आये।[१६]

धर्म-प्रचार आदि के निमित्त अन्यत्र जाने पर भी 'महाराज' वहाँ संकीर्तन का आयोजन किया करते थे। पूर्वबंग के भक्तों के अनुरोध पर वे स्वामी प्रेमानन्द और अन्य साधुओं को साथ लेकर २० जनवरी १९१६ को मैमनसिंह पहुँचे। अगले दिन अपराह्न स्थानीय दुर्गाबाड़ी में एक सभा हुई। महाराज से कुछ बोलने का अनुरोध किया गया। वे न स्वयं कुछ बोले और न किसी अन्य संगी को बोलने का आदेश दिया, बल्कि उसकी

११. राजा महाराज (बँगला), स्वामी नरोत्तमानन्द, पृ. ११२-१३

१२. स्वामी ब्रह्मानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), कोलकाता, प्र.सं., पृ. २९०

१३. ब्रह्मानन्द-लीलाकथा (बँगला), तृ. सं. (१३९५), पृ. ४९-५०; स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, पृ. २७१

१४. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), उद्बोधन कार्यालय, तृ.सं., पृ. २७२; स्वामी ब्रह्मानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), प्र.सं., पृ. २५५

१५. स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, पृ. ३८०

१६. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला), पृ. २६६

जगह उनके आदेश पर 'रामनाम-संकीर्तन' हुआ था।[१७]

संकीर्तन से भाव-समाधि

इस संकीर्तन को सुनते हुए महाराज कभी-कभी तो भाव-समाधि में भी डूब जाते थे। ऐसे ही एक अवसर का वर्णन करते हुए उनके एक शिष्य स्वामी विश्वानन्द ने लिखा है - "एक बार श्रीमाँ (सारदा देवी) के गाँव जाने पर 'महाराज' उद्बोधन कार्यालय में ठहरे थे। उसी समय एक दिन उनके छोटे-से कमरे में रामनाम गाया गया। वहाँ केवल छह लोग उपस्थित थे। उसी दिन मेरी समझ में आया कि भावसमाधि किसे कहते हैं। 'महाराज' को बारम्बार भाव हो रहा था। उनका शरीर कभी कम्पित होने लगता और कभी स्थिर हो जाता था। दो-एक शब्दों के माध्यम से वे परमानन्द व्यक्त कर रहे थे। पूरा कमरा मानो आध्यात्मिक भाव से स्पन्दित हो रहा था। ऐसा लग रहा था कि मानो मैं किसी अन्य लोक में पहुँच गया हूँ। भजन समाप्त हो जाने पर विदा लेने के पूर्व स्वामी प्रेमानन्दजी के एक सेवक ने 'महाराज' को प्रणाम किया। उसके मस्तक नवाते ही महाराज कह उठे, 'अरे बुद्धू, अभी तू कहाँ जायेगा? यहाँ जो कुछ हुआ, वह ध्यान के काफी ऊपर की चीज है।' इस उक्ति का तात्पर्य स्पष्ट है। जहाँ भागवती चेतना इतनी प्रस्फुटित हो उठी हो, ब्रह्मचारी उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायेंगे!"[१८]

स्वामी अशेषानन्द लिखते हैं, "पहले बलराम बोस के घर 'रामनाम' होता था। स्वामी अखिलानन्द, विविदिषानन्द तथा मैं उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। हम लोग तब भी छात्र थे।... उस दिन महाराज आये। वे हर बार नहीं आते थे। उस दिन कई संन्यासी एक साथ गा रहे थे। हम लोग भी उनके साथ-साथ गा रहे थे। महाराज ने हम लोगों की ओर देखते हुए खूब उत्साहपूर्वक कहा, 'चलाते रहो, चलाते रहो।' पर थोड़ी देर बाद ही निर्वाणानन्द ने देखा कि महाराज अपने स्वयं के जगत् में डूब गये हैं। उन्हें बाह्य जगत् का जरा भी होश नहीं है। निर्वाणानन्द उन्हें उनके कमरे में ले गये। महाराज वहाँ करीब ४५ मिनट तक भावसमाधि में डूबे रहे। उस दिन मैं वह देख नही सका, क्योंकि मुझे छात्रावास लौट आना पड़ा था। बाद में मैंने अन्य संन्यासियों के मुख से सुना कि उस दिन महाराज ने कहा था, 'रामनाम ने हम लोगों के मन को एक उच्च स्तर में पहुँचा दिया है।' "[१९]

संकीर्तन की महिमा

'महाराज' अपने पास आनेवाले भक्तों को भी 'संकीर्तन' में भाग लेने को प्रेरित किया करते थे। श्री निर्मल कुमार घोष ने जब उन्हें बताया कि वे विशेष रूप से उनका चरण-दर्शन तथा 'रामनाम' सुनने के लिये ही मठ में आये हैं, तो महाराज बोल उठे, "अहा! तुम इतनी दूर से इतना कष्ट उठाकर पैदल चलकर रामनाम सुनने के लिये मठ आये हो! बहुत अच्छा! बहुत अच्छा! तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, जाकर रामनाम सुनो। भगवान का नामगान महा पवित्र वस्तु है। उससे सारा पाप-ताप और कलुष धुल जाता है। और देखो, रामनाम गान के समय सबके साथ स्वयं भी गाना।... जहाँ पर भगवान का नाम-कीर्तन होता है, वहाँ उपस्थित रहने पर उसमें योगदान करना चाहिये, गाना चाहिये। ठाकुर स्वयं यह बात कहते थे। जाओ, रामनाम आरम्भ ही होनेवाला है।"[२०]

सुनने में आता है कि यदि कहीं भूत-पिशाच का निवास हो, तो रामनाम गाने से वे वहाँ से भाग जाते हैं। हनुमानजी के बारे में भी तुलसीदासजी लिखते है – भूत-पिशाच निकट नहीं आवें, महावीर जब नाम सुनावें। १९२१ ई. में जब 'महाराज' मद्रास गये, तो कुछ दिनों के लिये उन्हें रामकृष्ण मिशन विद्यार्थी-गृह में ठहराया गया था। 'महाराज' को उस परिसर में एक दुष्ट प्रेतात्मा की उपस्थिति का बोध हुआ। उसे वहाँ से निकालने के लिये उन्होंने वहाँ कुछ दिनों के लिये प्रतिदिन 'रामनाम-संकीर्तन' का आयोजन किया था।[२१]

स्वामी प्रेमानन्द का संकीर्तन-प्रेम

'महाराज' के गुरुभ्रातागण भी संकीर्तन में ऐसी ही भावुकता के साथ सम्मिलित हुआ करते थे। बेलूड़ मठ में 'संकीर्तन' शुरू होने के कुछ वर्षों बाद ही श्रीरामकृष्ण के लीला-सहचर स्वामी प्रेमानन्दजी की उपस्थिति में मठ में एक दिन हुए संकीर्तन का, स्वामी ओंकारेश्वरानन्दजी द्वारा लिखित आँखों-देखा हाल उपलब्ध है, "आज कृष्णपक्ष की एकादशी, ३ दिसम्बर १९१५ ई., शुक्रवार का दिन है। मठ के अतिथि-कक्ष में संध्या के बाद महावीर हनुमान की पूजा, आरती तथा रामनाम-संकीर्तन होनेवाला है। अपराह्न से उसी का आयोजन चल रहा है।... रात के करीब सात बजे हैं। महावीर की पूजा, भोग तथा आरती समाप्त हुई।... अब संकीर्तन शुरू होगा। श्रीराम-गतप्राण, दास्य-भक्ति के चरम आदर्श, इष्टनिष्ठा के प्रतीक, पवनपुत्र, महावीर हनुमान अपनी अंजलि में मस्तक टेके हुए आकुलतापूर्वक, अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ रुद्ध तथा गद्‌गद कण्ठ से श्रीराम के चरणों में प्रार्थना कर रहे हैं – हे रघुकुल-तिलक, मुझे शुद्धा भक्ति तथा निर्भरता प्रदान करके, मेरे मन को काम आदि दोषों से मुक्त कर दीजिये। आप ही मेरे तथा अखिल विश्व के अन्तरात्मा हैं। सच कहता हूँ – इसके सिवा मेरे मन में अन्य कोई कामना नहीं है।"

मठ के शुद्ध-सत्त्व साधु-भक्तों ने भी महावीर के हृदय से हृदय मिलाकर परम भक्तिपूर्वक इस प्रार्थना के साथ संकीर्तन

(शेष अगले पृष्ठ पर)

१७. स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, सं. २००६, पृ.१९६; **१८.** स्वामी ब्रह्मानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), पृ. ३२४; **१९.** वही, पृ. ११८

२०. स्वामी ब्रह्मानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), प्र.सं., पृ.४५०

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(पिछले अंक से आगे)

१९११ ई. होगा। माँ के भतीजे भूदेव हमारे समवयस्क होंगे। बचपन से ही देखने में अपूर्व सुन्दर थे। मानो कसौटी पत्थर से गढ़े हुए बालकृष्ण की मूर्ति हों। उनकी इच्छा थी कि उद्‌बोधन में माँ के घर में दुर्गापूजा करें। माँ से बोले, "ओ बुआ, तुम व्यवस्था करो।" माँ ने थोड़ा सोचकर कहा, "इस छोटी-सी जगह में प्रतिमा लाकर पूजा करना तो सम्भव नहीं। लेकिन तेरी दुर्गापूजा घट-पट में होगी।" प्रकाश से (शरत् महाराज के भाई ब्रह्मचारी प्रकाशचन्द्र) कहूँगी कि पूजा कर देगा। तू बैठे-बैठे देखेगा और आह्लाद करेगा – इसी से हो जायगा।" भूदेव का निमंत्रण पाकर हम लोग अपने घर से आकर पूजा में सम्मिलित हुए। माँ ने भूदेव के मित्र मेरी ही आयु के बालकों को केले के पत्ते पर बड़े यत्न के साथ खूब प्रसाद दिया। माँ शुभकार्य, देव-कार्य में प्रोत्साहन देती रहती थीं।

मुझे याद है विजय-दशमी के दिन ज्ञान महाराज के लड़कों की टोली, उनके निर्देश पर सूदूर जानबाजार से दुर्गा-प्रतिमा को सिर पर रखकर बागबाजार लाती और माँ को दिखाकर गाजे-बाजे के साथ खूब धूमधाम से प्रतिमा का विसर्जन करती। उनमें कैसी भक्ति थी! कैसा उछल-कूद होता! और गगनभेदी समवेत स्वर में भजन होता – "माँ हैं और मैं हूँ, अब क्या जग की मुझको परवाह? माँ के हाथों खाऊँ-पहनूँ, माँ ने लिया है मेरा भार।" माँ दुमंजले के बरामदे में हाथ-जोड़े खड़ी होकर पुन: पुन: देवी को प्रणाम करतीं। अन्य मुहल्लों से भी कई प्रतिमाएँ आकर इकट्ठी होतीं। शरत् महाराज प्रवेश-द्वार पर आकर प्रणाम करते। अद्‌भुत दृश्य होता! माँ की अनुमति पाने के बाद सभी लोग पंक्तिबद्ध होकर प्रतिमा लेकर धीरे-धीरे गंगा की ओर चले। लड़कों की टोली के नेता राजवल्लभ-पाड़ा के निवासी मणि गांगुली की याद आती है – उत्साही, उद्यमी, हँसमुख, भक्तिमय, उज्ज्वल मुखमण्डल, दीर्घकाय, सोने जैसा रंग। बागबाजार के धार्मिक अविवाहित जापक निवारण दादा अपने हाथ से छोटी प्रतिमा गढ़ते। नीरव भक्त थे, कोई दिखावा या आडम्बर न था। माँ किसी-किसी मूर्ति को देखकर 'बहुत सुन्दर' कहतीं।

१९१६ ई. की बात है। एक बार निमंत्रण पाकर माँ के साथ हम लोग पुराने बालीगंज के शोकहरण बाबू के घर गये थे। उन्होंने खाने-पीने का अपूर्व आयोजन किया था। सबको परम सन्तुष्टि हुई। माँ ने सरल बालिका के समान ग्रामोफोन के रेकार्ड से कुछ गाने सुने। शोकहरण बाबू का मठ के प्रति बड़े अपनत्व का भाव था। वे बारम्बार माँ के पास आते-जाते। बलराम भवन में महाराज के पास प्राय: ही कभी टिफीन कैरियर में पुलाव या कभी डब्बा-भर आइसक्रीम ले जाते। हम लोगों ने उन सबका प्रसाद पाया है।

१९१८ ई. के जून का महीना। राधू में सनक जगी – "बूआ, छत पर कोई शोर मचा रहा है। जाकर मना करो! कौवे की आवाज से मेरा सीना काँपता है। बुआ, जल्दी जाकर कौवे को भगाओ! इस छत से, उस छत से, दुमंजले के बरामदे से भगाओ!" विवेकानन्द कथित जीवन्त – दशभुजा, वर्तमान में द्विभुजा माँ ने निर्विकार भाव से जरा भी नाराजगी दिखाये बिना बालिका के स्नेहिल आदेश का पालन किया। वह एक दर्शनीय दृश्य था। स्वाभाविक निरंहकारिता की नीरव स्वच्छ अभिव्यक्ति। मैं प्रशंसा भी कैसे कर सकता हूँ? क्योंकि यहाँ कोई आडम्बर या दिखावा तो है नहीं। समाधिस्थ होने पर ही अहंता का पूर्ण नाश होता है।

गर्मी की दुपहरी। भोजन आदि के बाद घर के सभी लोग थोड़ा विश्राम कर रहे हैं। केवल माँ की ही आँखों में नींद

पिछले पृष्ठ का शेषांश

आरम्भ किया। पूरे एक सौ आठ पंक्तियों का रामचरित गाया गया। महावीर के भावों में विभोर भक्तिमान बाल-ब्रह्मचारी साधु-भक्तों द्वारा गाया हुआ रामनाम-संकीर्तन सुनकर सबके प्राण शीतल हुए।... दास्य भक्ति के मूर्त विग्रह पवननन्दन महावीर मानो वहाँ साक्षात् प्रगट हो गये थे। बाबूराम महाराज – पुष्पमाला से सुशोभित महावीर के चरणों के पास ... बैठे गायन सुन रहे हैं। बीच-बीच में उन्हें भाव हो रहा है। उनके पूत देव-शरीर में अश्रु, पुलक आदि गम्भीर भाव के सारे लक्षण प्रकट होने लगे। संकीर्तन समाप्त होने पर सभी लोग परम भक्तिपूर्वक महावीर तथा बाबूराम महाराज के चरणों में प्रणत हुए। बाबूराम महाराज ने भी साष्टांग भूमिष्ठ होकर आदर्श-चरित महावीरजी को प्रणाम किया।[२१] ❖ **(क्रमश:)** ❖

२१. प्रेमानन्द, स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, प्रथम भाग, देवघर, पृ. ४२-४४; विवेक-ज्योति, फरवरी १९११, पृ. ७९

नहीं है। स्वयं ही रुग्ण माँ पीड़ित राधू के लिये उद्विग्न है। तिमंजले की छत पर बने ऊपर के छोटे कमरे के दरवाजे-खिड़कियों को बन्द करके एक खिड़की का जरा-सा हिस्सा खोल मेरे बड़े भाई, माँ के ही शिष्य, एम. ए. की परीक्षा देने वाले थे, लेटे-लेटे चुपचाप पुस्तक पढ़ रहे हैं। पास ही मैं भी उसी प्रकार अध्ययन कर रहा था। देखा, बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे मृदुता से कुण्डी घुमाकर माँ ने द्वार खोला और विस्मित होकर बड़े मृदु स्वर में बोलीं, "बेटा, देख रही हूँ कि तुम दोनो भाई तो चुपचाप पढ़ रहे हो और नीचे राधू बार-बार मुझसे कह रही है कि ऊपर से आवाज आ रही है। जा कर देख तो!" माँ की वह सरल भद्रमूर्ति आज भी हृदय में अंकित हैं। बड़ी-बड़ी उपाधि-व्याधि से युक्त तथाकथित उच्च शिक्षित लोगों में भी इस गुण का नितान्त अभाव दिखता है।

२४ दिसम्बर, मंगलवार को 'उद्‌बोधन' की छत पर शामियाना लगाकर सुन्दर व्यवस्था के साथ माँ की शुभ जन्म -तिथि का उत्सव मनाया गया। छोटा-सा मकान था, जगह की कमी थी। दिन भर में पाँच-छह बार में कुल मिलाकर करीब सात सौ नर-नारियों ने तृप्तिपूर्वक प्रसाद ग्रहण किया। धूप-धूना तथा पुष्प-मालाओं के सुगन्ध से दसों दिशाएँ सुरभित हो रही थीं। आनन्दमय परिवेश था। माँ ने रेशमी वस्त्र धारण किया है। गले में पुष्पमाला, चरणों में असंख्य श्वेत तथा लाल कमल और गुलाब के फूल हैं। फूलो का पर्वताकार स्तूप हो गया है। मास्टर महाशय की अप्रकाशित डायरी में है – श्रीरामकृष्ण ने माँ के बारे में कहा था, "उसके चरण सुलक्षणों से युक्त – मानो जगद्धात्री के चरण हैं।"

इस शुभ अवसर पर योगीन-माँ ने श्रीमाँ को प्रणाम किया। वह चुपचाप देखने योग्य दृश्य था। पूजागृह। भाव में विभोर योगीन-माँ के मुख-मण्डल पर मानो दो विशाल कमल-नयन चित्रित हों। बहुत देर तक माँ के चरणों में सिर रखकर प्रणम निवेदित किया। पुष्प तथा अर्घ्य प्रदान किया। खड़े होने पर भी उनके भाव का नशा टूटा नहीं। लड़खड़ा-सी रही थीं। माँ उनके सिर पर हाथ फेर रही हैं। उनकी ठुड्डी का स्पर्श करके अपनी अंगुलियो को चूम रही हैं। सबसे मधुर दृश्य था – योगीन-माँ, अतीव स्नेहपूर्वक श्रीमाँ की ठुड्डी छूकर बार-बार अपनी उंगली चूम रही हैं। यह उनका विशेष अधिकार है। उनके प्रति माँ के मुँह से बस, इतना ही निकलता है – "आओ बेटी! आओ!" मानो ब्रज की श्रीराधा के प्रति सबकी श्रद्धा-प्रीति उमड़ पड़ी हो। ठाकुर ने कहा था – योगीन कृष्णलीला की एक गोपिका हैं। योगीन-माँ श्रीमाँ के श्रीमुख में क्या देख रही हैं, यह तो वे ही जानें। शरत् महाराज के प्रणाम के समय माँ ने अपने को पूरी तौर से घूंघट से ढँक लिया था। शरत् महाराज छोटे बच्चे की भाँति ईर्ष्या करते, "मेरे सामने तो माँ मुख खोलती नहीं!" शरत् महाराज के प्रणाम करते समय माँ के मुख-मण्डल पर जो भावान्तर – भावावेश होता, उसे तो हम देख नहीं पाते थे। परन्तु योगीन-माँ के प्रणाम करते समय हमने देखा – माँ के चेहरे से आनन्द की लहरें फूट रही हैं। वे दोनों चरण नीचे लटकाये चौकी पर बैठी हैं। योगीन-माँ का प्रणाम मानो किसी पर्व के समान होता। माँ प्रारम्भ में ही कह देतीं, "बेटी योगीन, तुम्हारा प्रणाम तो झट से नहीं होगा। तुम इसी समय – पहले ही आ जाओ। इसके बाद भीड़ बढ़ेगी।"

अगले दिन २५ दिसम्बर को बड़ा दिन था। उस दिन एक घटना हुई। पहला विश्वयुद्ध हाल ही में समाप्त हुआ था। अंग्रेजों की जयजयकार हो रही थी। कलकत्ते के अंगेजों के मुहल्ले में सभी मद्यपान करके उन्मत्त थे। मौज-मस्ती और हो-हल्ले का आलम था। लोगों की अपार भीड़ थी, विशेषकर उस बड़े दिन के अवसर पर। माँ की भतीजियाँ अर्थात् राधू, माकू, नलिनी आदि के मन में बड़े दिन के अवसर पर सर्कस देखने की सनक सवार हुई। वे माँ के परम भक्त ललित दादा (ललितमोहन चट्टोपाध्याय) से जिद कर बैठीं – ले जाकर दिखाना ही होगा। उन्होंने कहा, "तुम लोग यदि माँ को सर्कस जाने के लिए राजी करा सको, तो मैं कमर बाँधकर तैयार हूँ। नहीं तो कौन बेकार के इस झंझट में पड़ेगा? बड़े दिन के इस प्रचण्ड भीड़ में दूसरा कोई इस काम का बिल्कुल भी साहस नहीं कर सकेगा। माँ की कृपा से मैं अकेला ही सुव्यवस्था करके सबको ले जाऊँगा।"

भतीजियों के स्नेहपूर्ण हठ पर आखिरकार बुआ राजी हो गयीं। प्रस्ताव शरत् महाराज के कानों में पहुँचने पर उन्होंने ललित को बुलाकर कहा, "जब माँ राजी हैं, तो मुझे कुछ भी नहीं कहना है, पर तुम तो अब बच्चे नहीं रहे, वृद्ध हो चले हो। तुम जरा अच्छी तरह सोचकर देखो! क्या यह वृथा हठ उचित होगा? यदि माँ को कष्ट हुआ, तो कौन जिम्मेदार होगा? आज के इस माहौल में तुम्हें माँ को ले जाने का साहस भी कैसे हो रहा है? ललित ने धीरे से हँसकर कहा, "महाराज, आपके अनुमोदन के बिना माँ कहीं एक कदम भी नहीं हिलतीं। आप सहमति दीजिये। मैं दायित्व लेता हूँ। आप निश्चित रहिये, मैं प्राणपण से चेष्टा करूँगा कि माँ को कोई कष्ट न हो। सारा झंझट मैं अपने कन्धों पर लेता हूँ।"

माँ कार में नहीं चढ़ती थीं। कहतीं – सीने में न जाने कैसा लगता है। अन्यथा अनायास ही उनके परम निष्ठावान अनुरागी सेवक डॉक्टर काँजीलाल की गाड़ी में जाने की व्यवस्था हो जाती। आखिरकार चार घोड़ोंवाली गाड़ी में ही जाना हुआ। मैदान के एक किनारे दक्षिण की ओर विक्टोरिया मेमोरियल के पास। सर्कस का नाम नोट करना भूल गया हूँ। मास्टर महाशय साथ रहने पर निश्चय ही टिकट की कीमत से लेकर सब कुछ नोट कर लेते। माँ तथा उनकी

संगिनियों को अच्छी जगह पर बैठाया गया। माँ तथा सभी लोग सर्कस का खेल देखकर आनन्दित हुए। इसी प्रसंग में याद आता है – १५ नवम्बर १८८२ ई. को श्रीरामकृष्ण गड़ के मैदान में विलसन सर्कस देखने गये थे।

इतनी भीड़ थी कि मैदान में लोग समा नहीं रहे थे। वाद्ययंत्रों के शोरगुल से सिर गरम हो जाता था। काले सिरों का मानो समुद्र लहरा रहा था। खूब ठण्ड थी। सर्कस समाप्त होने के बाद भीषण ठेलम-ठेल हुई। लौटने के समय संध्या बीत चुकी थी। चारों तरफ रोशनी जगमगा रही थी। बहुत चेष्टा के बावजूद आसपास कोई गाड़ी नहीं मिली। ललित दादा ने परेशान होकर काफी भागदौड़ की, तो भी आखिरकार कोई व्यवस्था नहीं हो सकी। इधर माँ मैदान की खुली जगह में कुहरे के बीच शान्त भाव से खड़ी हैं। तत्पश्चात् वे सर्कस के तम्बू से धर्मतला के मोड़ तक करीब बीस मिनट का रास्ता गठियाग्रस्त पावों से धीरे-धीरे निर्विकार चित्त से मोड़ तक पैदल चलकर गाड़ी में बैठीं। उनकी 'विजया' गोलाप – श्रीमाँ की बॉडीगार्ड थीं। वे घूंघट-काढ़े माँ को हाथ पकड़कर ला रही थीं। माँ को अपने बड़े लड़के 'सृष्टिधर' शरत् का बड़ा ही मधुर भय था। मैं हर रात शरत् महाराज के कमरे में उन्हीं के पास सोता था। माँ ने मैदान पार करते-न-करते मुझसे तत्काल कह दिया, "देख तो बेटा, ललित का कोई दोष नहीं। वह निरुपाय था। प्राणपण से चेष्टा के बावजूद बच्चे को किसी भी प्रकार गाड़ी नहीं मिली। वह और क्या करता? शरत् को यह बात समझाकर कह देना, ताकि ललित को मेरे कारण डाँट न खानी पड़े।" माँ की ललितमोहन के प्रति कैसी संवेदना, कैसी करुणा, कैसी ममता थी! परन्तु उन्हें किसी भी तरह बचाया नहीं जा सका। शरत् महाराज तो शाम से ही बैठकखाने में बैठे रास्ता देख रहे थे। हुक्का पीते हुए सोच रहे थे – माँ अब आयीं, अब आयीं। उद्‌बोधन लौटते ही उनके जिरह की चोट से, विशेषकर गुलाब फूल के काँटों के समान शरत् महाराज के प्रश्नों की बौछार से हम लोगों को सब कुछ ठीक-ठाक बता देना पड़ा। आखिर कितनी देर तक बहलाया जा सकेगा? इसके साथ ही ललित को भयंकर डाँट पड़ी! माँ को कष्ट हुआ है, तो वह कैसे बच सकता था? शरत् महाराज बाघ के समान गरज उठे – "मूर्ख!" ललित का सिर झुक गया। उनका साहस दु:साहस में परिणत हो चुका था। माँ तो शरत् महाराज के सामने नहीं निकलती थीं। बाद में अन्दर जाकर कमरे में ललित के देह-पीठ पर हाथ फेरती हुई बारम्बार आशीर्वाद देने लगीं, ताकि ललित के मन में कष्ट न हो। तो भी आखिर में बोलीं, "शरत् ने ठीक ही कहा है बेटा! अब से सब तरफ से सोच-विचार कर ही काम करना।" – माँ मानो मूर्तिमती करुणा थीं।

शरत् महाराज के एकाकी निष्ठापूर्ण प्रयास के द्वारा माँ के जीवन-काल में ही निर्मित 'उद्‌बोधन-भवन' १९०९ ई. से रामकृष्ण-लीला का एक चिन्मय केन्द्र रहा है। चिन्मय-धाम – मातृधाम। उद्‌बोधन ही माँ की अन्तिम लीला का स्थान – ब्रह्ममयी का आवास रहा है। स्वामीजी विनोद में कहते – "बेटा तो माँ का गुलाम है।" उद्‌बोधन की छत पर खड़े होकर दक्षिणेश्वरी *भवतारिणी-काली-मन्दिर* के घाट से होकर प्रवाहित होनेवाली माँ गंगा के साथ अनायास अति सहजता से भावसेतु बन जाता है। भावमयी चिन्मयी चिद्‌घन-काया माँ को, राखाल महाराज को, शरत् महाराज को और योगीन-माँ को कितनी ही बार देखा है कि छत पर खड़े होकर उत्तर की ओर हिमालय समान प्रभु का लीला-निकेतन, कलि के वैकुण्ठ – दक्षिणेश्वर को उत्तरेश्वर बनाकर चुपचाप देख रहे हैं। सभी मौन हैं। खड़े-खड़े ध्यानलीन हैं –

अस्त्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः ।। (कालिदास)

ललित दादा के साथ जुड़ी एक अन्य घटना याद आ रही है। एक दिन उन्होंने माँ के एक सम्बन्धी तथा मुझे बागबाजार के अपने ५३/२ बसुपाड़ा लेन के मकान पर दिवाभोज के लिये आमंत्रित किया था। ललित तो पहले ही आमोद-प्रमोद के स्रोत में बहकर प्राय: डूब चुके थे। पर माँ ने अपनी अनंत अपार दया के द्वारा उन्हें रामकृष्ण-तट पर पहुँचा दिया था। आठ-नौ सन्तानों के पिता होकर भी, एक-एक कर सबको यम के हाथों में अर्पित करके उनकी एक तरह से विक्षिप्त जैसी अवस्था हो गयी थी! माँ को पाने के साथ ही मानो उन दम्पति को किनारा मिल गया था। ललित बाबू की पत्नी का नाम 'दासी' था। उन्होंने माँ की दासी होकर अपना नाम सार्थक कर लिया। शोकग्रस्त भग्न तन-मन के साथ ललित ने पुन: अपने मन को माँ के श्रीचरणों में समेटकर मलेरिया के आगार – जयरामबाटी ग्राम में दातव्य चिकित्सालय की स्थापना करने के लिये जी-तोड़ परिश्रम करना शुरू किया। वे मानो एक दूसरे ही व्यक्ति हो गये। माँ के प्रति ललित का आकर्षण पकड़ में नहीं आता था। उन्हें देखकर माँ का स्नेह-सिन्धु उमड़ पड़ता था। यह मेरे स्वयं की देखी हुई बात है। ललित ने अपनी एक जीवन-कथा गर्व से हम लोगों को न जाने कितनी बार बतायी है – "उद्‌बोधन का मकान बनने के बहुत पहले शाँखारी-टोले के मेरे किराये के मकान में जाकर माँ ने मेरे कहने पर स्वयं अपने तैलचित्र की फूल-चन्दन से पूजा करके मुझे दीक्षा दिया था। मुझे तुम लोग क्या ऐसा-वैसा सोचते हो?" यही तो भक्त का 'पक्का मैं' है। १९२३ ई. में माँ के जन्मस्थान में श्रीमन्दिर में शरत् महाराज ने विग्रह के रूप में इसी चित्र में प्राण-प्रतिष्ठा की थी। अस्तु।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी आत्मानन्द (६)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद मे कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्मानन्द के सरल-निर्मल व्यक्तित्व के सान्निध्य से (वाराणसी के) सेवाश्रम तथा अद्वैत आश्रम के साधु-कर्मियों की जीवन-धारा अनेकों प्रकार से प्रभावित हुई थी। कर्म के प्रचण्ड भँवर में पड़कर यदि किसी साधु के व्यक्तिगत जीवन में साधन-भजन तथा ज्ञान-विचार आदि की उपेक्षा होती, तो वे उसके विषमय परिणाम के विषय में बोलकर बारम्बार सावधान कर देते। सेवाश्रम के एक वरिष्ठ संन्यासी ने एक बार किसी प्रसंग में कोई झूठी बात कह दी। वह बात आत्मानन्द के कानो में पहुँची। उन्होंने तत्काल उन साधु को बुलवाया और उत्तेजित होकर उनकी भर्त्सना करते हुए बोले, "कर्म साधु को भी मिथ्याचारी बना देता है। इतने वरिष्ठ साधु के मुख से झूठी बात निकली! यदि सम्भव हो, तो कुछ काल के लिये कर्म छोड़कर केवल ईश्वर-चिन्तन लेकर रहो।"

महाकवि गिरीशचन्द्र द्वारा लिखित 'पूर्णचन्द्र', 'बिल्वमंगल', 'काला पहाड़', 'नसीराम', 'चैतन्य-लीला', 'निमाई-संन्यास', 'पाण्डव-गौरव' तथा 'रूप-सनातन' आदि ग्रन्थ उनके विशेष प्रिय थे। कई बार वे इनमें से कोई ग्रन्थ लेकर स्वयं ही पढ़कर सुनाते अथवा किसी निकटवर्ती को पढ़ने के लिये कहते। निर्जन एकान्त में टहलते समय बीच-बीच में गिरीशचन्द्र द्वारा रचित यह भजन उनके मुख से सुनाई पड़ जाता था –

जय वृन्दावन जय नरलीला,
जय गोवर्धन चेतन शीला,
नारायण, नारायण, नारायण ।।
चेतन यमुना चेतन रेणु
गहन कुंजवन व्यापित वेणु
नारायण, नारायण, नारायण ।।
खेला खेला खेला मेला,
निरंजन निर्मल भावुक भेला,
नारायण, नारायण, नारायण ।।

फिर कभी वे तन्मय होकर स्वामीजी का प्रिय भजन – 'मन चलो निज निकेतने' गाने लगते।

कुछ दिनों बाद अपने प्रिय गुरुभ्राता स्वामी शुद्धानन्द के वाराणसी आने पर आत्मानन्द बड़े आह्लादित हुए थे। स्वामी अखण्डानन्दजी उस समय वाराणसी शहर से कुछ दूर स्थित पुँटिया के राजभवन में निवास कर रहे थे। एक दिन दोनों गुरुभाई पैदल ही लम्बा रास्ता चलकर अखण्डानन्दजी का दर्शन आदि कर आये थे। आत्मानन्द का स्वास्थ्य तब भी काफी अच्छा था। वे शुद्धानन्दजी से प्राय: ही कहते, "मेरी कर्मबहुल केन्द्र में रहने की इच्छा नहीं होती – यहाँ मन चंचल होता है। केवल महापुरुष महाराज के आदेश के कारण ही यहाँ रहता हूँ। यदि उनकी अनुमति मिले, तो हरिद्वार या वैसे ही किसी निर्जन स्थान में गंगाजी के तट पर पड़ा रहूँ। परन्तु अब अकेले रहने की शक्ति नहीं रही। कोई साथ रहे, तो सुविधा होती है, क्योंकि पानी भरना आदि कार्य अब मेरे लिये असम्भव हो गया है। वैसे बैठे-बैठे भोजन पकाना आदि किसी प्रकार कर ले सकता हूँ।"

शुद्धानन्दजी के काशी आगमन के बाद वे केवल नौ-दस दिन ही स्वस्थ रहे। उनके मुख से प्राय: ही सुनने में आता, "गंगातट पर ही शरीर छोड़ूँगा, ताकि किसी को कष्ट न देना पड़े।" शाम के समय वे अत्यन्त अन्तर्मुख भाव से अपने आप में डूबे हुए टहलते। सबकी दृष्टि से परे उनकी महा-प्रस्थान की तैयारी चल रही थी। वाराणसी में उनके अन्तिम कुछ दिनों की घटनावली बड़ी मर्मस्पर्शी है। अपरिग्रह तो उनके पूरे जीवन का ही एक मूलमंत्र था। इसी बीच रिक्तहस्त अकिंचन संन्यासी ने अपना बचा हुआ टिन का बक्सा भी मठाध्यक्ष महाराज के पास भेजने हेतु शुद्धानन्दजी के हाथों में सौंप दिया था। शुद्धानन्दजी ने भी पत्र द्वारा महापुरुष महाराज को इस समाचार से अवगत करा दिया था। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उन्होने कभी किसी भक्त या साधु के प्रीतिपूर्ण दान की उपेक्षा नहीं की। वे उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेते और अगले ही क्षण उसे सेवाश्रम के भण्डार में जमा कराने के लिये भेज देते। एक दिन किसी भक्तिमान ब्रह्मचारी की इच्छा हुई कि वह आत्मानन्दजी को अपनी पसन्द के अनुसार कुछ खिलायेगा। उसने इस उद्देश्य से कुछ आने पैसे उनके सेवक को देकर अपनी आकांक्षा व्यक्त करने पर, सेवक ने वही चीज बनवाकर आत्मानन्दजी को दिया था। नयी चीज खाते समय वे उस दिन अत्यन्त आनन्दित हुए थे – बारम्बार पूछा था कि इतनी स्वादिष्ट चीज कौन और कहाँ से लाया था। परन्तु उससे बचा हुआ एक आना तब भी सेवक के पास था। यह एक बड़ी चिन्ता की बात थी। आखिरकार आत्मानन्दजी ने कहा – उस एक आने से स्वामीजी का एक चित्र खरीदा जाय। चित्र को

खरीदकर लाये जाने पर उन्होंने एक बालक के समान उसे आह्लाद तथा गौरव के साथ अपने सिर से लगाया और अपने सिरहाने रख दिया था। घटना छोटी-सी है, परन्तु भाव-समृद्धि की दृष्टि से अतुलनीय है।

सहसा शुद्धानन्द तथा आत्मानन्द दोनों गुरुभाई बुखार से पीड़ित हो गये। दोनों ही अम्बिका-धाम में रहते थे। सबको लगा कि यह साधारण इंफ्लुएंजा का रोग है। शुद्धानन्द के मामले में यह अनुमान सही था, परन्तु आत्मानन्द का बुखार भिन्न दिशा लेता गया। एक दिन दोनों ही दूध-साबूदाने का पथ्य पी रहे थे, उसी समय आत्मानन्द ने स्वयं ही कहा, "अब स्वामीजी मुझे बुला रहे हैं। अब वे अपने इस बकरे को बलिदान करेंगे। मेरी यह बुखार साधारण बुखार नहीं है। यह या तो टायफायड है, नहीं तो न्यूमोनिया।" उन्हें समझाया गया कि उनका यह अनुमान ठीक नहीं है और वे शीघ्र ही स्वस्थ हो उठेंगे, परन्तु वे आखिरी तक कहते रहे, "ठीक है, देख लेना कि तुम लोगों की बात ठीक है या मेरी। स्वामीजी के बकरे की इस बार निश्चित रूप से बलि होगी।" स्वामी आत्मानन्द की बात ही सत्य थी। शुद्धानन्दजी स्वस्थ हो उठे और आत्मानन्द स्वामीजी के चरणों में अपने अन्तिम बलिदान के लिये प्रतीक्षारत रहे।

स्वामी आत्मानन्द की शारीरिक जटिलता ने उनके चिकित्सक तथा सेवकों को क्रमश: चिन्तित कर डाला। उन्हें प्रबल ज्वर तथा पेट का रोग तो रहता ही, साथ ही उनमें न्यूमोनिया के लक्षण प्रगट होने पर सबकी आप्राण सेवा-सुश्रूषा से भी कोई लाभ नहीं हुआ। पर ऐसी अवस्था में भी स्वावलम्बी संन्यासी को शौच आदि के लिये किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं था। वे दीवाल का सहारा लेकर लड़खड़ाते हुए किसी तरह स्वयं शौचालय में ही जाते। इसी काल की एक मर्मस्पर्शी घटना से संन्यासी आत्मानन्द की वैराग्यपूर्ण जीवन-गाथा और भी अधिक स्मरणीय हो उठी है। घटना इस प्रकार है –

काफी काल से उपयोग में लायी गयी एक पुरानी दरी, उसके ऊपर एक स्वच्छ तौलिया, एक छोटा-सा तकिया और शरीर ढकने के लिये एक मोटा बम्बइया चादर – शैय्या की यही सामग्री उनकी अन्तिम बीमारी तक थी। एक दिन वे शौचालय गये हुए थे। इसी बीच उनके सेवक ने एक नयी गद्दी बिछाकर उसके ऊपर उनका बिस्तर लगा दिया था। शौचालय से लौटने के बाद अपना कोमल बिस्तर देखकर वे अपने सेवक से नाराजगी के स्वर में कह उठे, "क्या तुम लोग मुझे शान्ति से मरने नहीं दोगे? यदि तुम लोगों की यही इच्छा हो, तो भाई, तुम यहाँ से चले जाओ। मुझे तुम्हारी सेवा नहीं चाहिये।" सेवक को ऐसी कल्पना तक नहीं थी कि उनके भग्न शरीर के क्षीण कण्ठ में भी ऐसा तेज विद्यमान है। उसने सविनय कहा, "महाराज, मेरा अपराध क्षमा कर दीजिये।" इस पर गद्दी की ओर इंगित करके वे पुन: कहने लगे, "संन्यासी की मृत्युशय्या पर यह सब क्यों? क्या तुम दया करके इसे उठा लोगे?" दुर्बल शरीर में खड़े रह पाने में असमर्थ होकर वे कमरे की फर्श पर ही लेट गये। हार मानकर सेवक द्वारा गद्दी को निकाल देने और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने पर ही वे शान्त हुए और अपनी पहले की दरी की शय्या पर लेटे। अगले दिन स्वामी अखण्डानन्दजी उन्हें देखने आये। उनके सस्नेह अनुरोध तथा आश्रमाध्यक्ष स्वामी कालिकानन्द की कातर प्रार्थना पर आखिरकार वे उस गद्दी का उपयोग करने को राजी हो गये।

स्वामी आत्मानन्द के जीवन में 'संन्यासी' शब्द का सच्चा अर्थ चरितार्थ हुआ था – तितिक्षा तथा वैराग्य ही उनके जीवन का श्रेष्ठ गौरव था। एक बार किसी ने उनसे प्रश्न किया था, "महाराज, क्या आप ब्राह्मण हैं?" आत्मानन्द ने उत्तर दिया था, "मैं संन्यासी हूँ।" तीन बार यही प्रश्न किये जाने पर भी उन्होंने हर बार यही उत्तर दिया था।

उनकी शारीरिक दुर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी, तो भी जापक आत्मानन्द का करजप अविराम चल रहा था। उनका शरीर क्रमश: शिथिल हो गया। आखिरकार १२ अक्तूबर (१९२३) शुक्रवार को उनकी महायात्रा का अन्तिम दिन आ पहुँचा। स्वामी अखण्डानन्दजी प्रशान्त-मुख और व्यथित कण्ठ से प्रयाणोन्मुख संन्यासी को उच्च स्वर में इष्ट-नाम सुनाने लगे। अन्तरंग गुरुभाई स्वामी शुद्धानन्द तथा अन्य अनेक साधुओं से घिरे हुए श्रीमाँ के प्रिय शिष्य-सन्तान, स्वामीजी के विशिष्ट संन्यासी शिष्य स्वामी आत्मानन्द संध्या के ७ बजकर २५ मिनट पर अपने स्वरूप में विलीन हो गये। निर्वाण के समय उनकी आयु करीब ५५ वर्ष थी। अगले दिन (१३ अक्तूबर) स्वामी शुद्धानन्द ने एक पत्र द्वारा बेलूड़ मठ में श्रीमत् स्वामी शिवानन्दजी को सूचित किया –

"हमारे परम प्रिय, काफी काल के मित्र तथा गुरुभाई शुकुल महाराज कल शुक्रवार को ७ बजकर २५ मिनट पर हम लोगों को छोड़कर साधनोचित धाम में चले गये। आज प्रात:काल हम लोग उनके शरीर को पुष्पमाला आदि से विभूषित करके मणिकर्णिका में जलसमाधि दे आये।"[१] स्वामी शिवानन्दजी ने सब कुछ सुनकर कहा था, "शुकुल महाराज महापुरुष थे।"

देहत्याग के मात्र कुछ दिन पूर्व ही एक सेवक ब्रह्मचारी ने आत्मानन्दजी से अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा दिव्य-दर्शनों के विषय में कुछ बताने के लिये हठ किया था। अपने प्रिय सेवक के बारम्बार अनुरोध करने पर उन्होंने निम्नलिखित कुछ बातें कही थीं – "भाई, तुम लोग दर्शन के विषय में

१. पूरा पत्र मासिक उद्बोधन के वर्ष १३३० (बंगीय) के अग्रहायण अंक में प्रकाशित हुआ है।

जैसा समझते हो, वैसा कुछ मुझे नहीं हुआ है। परन्तु एक दिव्य स्वप्न मैंने देखा है। उसे सुन लो। इसे यदि चाहो तो दर्शन कह लेना।... एक दिन रात को मैं लेटे-लेटे सोच रहा था, 'कुछ भी तो नहीं हुआ। पूरा जन्म व्यर्थ ही चला गया।' यही सोचते-सोचते लगता है कि झपकी आ गयी। वैसे ऐसा नहीं लगता कि ठीक-ठीक निद्रामग्न था। सहसा देखा कि सामने दो ज्योतिर्मय पदचिह्न हैं। उस समय समझ नहीं सका कि ये किसके पाँवों की छाप हैं, परन्तु बाद में समझ गया था कि वे श्रीमाँ के चरणचिह्न हैं। देखते-ही-देखते उन दोनों चरणचिह्नों में से एक असीम ज्योति ने आकर मानो मुझे घेर लिया। मैं उसमें पूरी तौर से डूब गया। नहीं जानता कि कितने समय तक मैं इसी प्रकार रहा, परन्तु परम आनन्द में रहा। जैसे बच्चा माँ की गोद में निश्चिन्त और आनन्द में रहता है, ठीक वैसा ही बोध हुआ था। ऐसा लग रहा था कि कितनी दूर-दूरान्तर में चला जा रहा हूँ। तब 'मैं' भी था या नहीं, कह नहीं सकता। सब कुछ मानो एकाकार हो गया था। उस आनन्द का नशा काफी देर तक बना रहा। बाद में बहुत सोचा कि 'यह स्वप्न था या सत्य?' परन्तु अब भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका हूँ। सम्भव है कि स्वप्न ही हो, परन्तु उस परम आनन्द का स्वाद अब भी मिलता है। और मन आज भी उसी के लिये व्याकुल है।''

साधक आत्मानन्द की इस अनुभूति की व्याख्या हमारी क्षमता के परे है, तथापि उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था का किंचित् आभास देने के लिये यह घटना उल्लेखनीय है। मातृभक्त शुकुल महाराज का हृदय कैसा मातृमय था, इसका कुछ परिचय इस लेख में पहले भी दिया जा चुका है। वर्तमान प्रसंग से उसी की पुष्टि होती है।

पाठक इस बात का भी परिचय पा चुके हैं कि संघ के वरिष्ठ नायकों का संन्यासी आत्मानन्द में कितना विश्वास था! एक अन्य घटना से वह और भी स्पष्ट हो जायेगा। स्वामी सारदानन्दजी काशी के अद्वैत आश्रम में उपस्थित थे। कुछ ब्रह्मचारी उनसे संन्यास की दीक्षा पाने के इच्छुक थे। सारदानन्दजी उस समय आश्रम के प्रांगण में स्थित जामुन के वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे – आत्मानन्द आदि कुछ अन्य लोग भी उनके पास थे। ब्रह्मचारियों ने सारदानन्दजी के चरणों में प्रणत होकर उनसे कृपा की प्रार्थना की। सारदानन्दजी ने उन लोगों को संकेत करके शुकुल महाराज से अनुमति लेने को कहा। शुकुल महाराज की अनुमति मिल जाने से उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। यह सुनते ही आत्मानन्दजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले, ''महाराज, आप इन लोगों के सिर पर हाथ रख दें, तो भी ये लोग मुक्त हो जायेंगे। आप कृपा करके इन्हें संन्यास दीजिये, इसमें मेरा क्या मतामत? ये लोग भाग्यवान हैं कि आपकी कृपा प्राप्त करेंगे। आपकी कृपा से इनका जीवन धन्य हो जायेगा। हम लोग इस विषय मे भला क्या कहेंगे?'' इतना कहते हुए उन्होंने सारदानन्दजी को साष्टांग प्रणाम किया और तेजी से वहाँ से चले गये।

ये चित्र नि:सन्देह आत्मानन्द के उच्च आध्यात्मिक जीवन के परिचायक तथा चिन्तन के योग्य हैं। संन्यासी द्वारा पालनीय कठोर नियम तथा रीति-नीतियों के विषय में अपने अन्त काल तक उनकी दृष्टि समान रूप से जागरूक रही। एक बार काशी के अद्वैत आश्रम में भागवत-पाठ हो रहा था – श्रोताओं के रूप में दोनों आश्रमों के अनेक वरिष्ठ तथा नवीन संन्यासियों के साथ ही स्वामी प्रेमानन्दजी तथा तुरीयानन्दजी भी उपस्थित थे। आत्मानन्दजी भी उस समय काशी में थे और वे भी पाठ सुन रहे थे। उसी समय एक भक्त-महिला आयीं और सबके पीछे बड़ी दरी के एक किनारे बैठ गयीं। आत्मानन्दजी तत्काल पाठ सुनना छोड़कर उठ गये। बाद में किसी वरिष्ठ साधु द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा था, ''संन्यासी का किसी स्त्री के साथ एक ही आसन पर बैठना निषिद्ध है।'' उनसे पूछा गया – तो फिर स्वामी प्रेमानन्दजी और तुरीयानन्दजी उसी आसन पर कैसे बैठे रहे? इस पर उन्होंने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया था, ''बाबूराम महाराज और हरि महाराज के कटाक्ष मात्र से मेरे समान हजारों आत्मानन्द ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन लोगों के साथ मेरी तुलना उचित नहीं है।'' बाद में यह घटना सुनने के बाद प्रेमानन्दजी ने आत्मानन्द की बहुत प्रशंसा की थी।

स्वामी आत्मानन्द की महासमाधि के बाद 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादकीय में उनका जो चरित्र-चित्रण प्रकाशित हुआ है, वही उनके विषय में यथार्थ मत है।[२] उसमें लिखा है, ''उनके जीवन में एक तपस्वी की तितिक्षा एवं कठोरता और एक योगी की मौन अन्तर्मुखता का समन्वय था। उनके द्वारा किया गया हर छोटा-मोटा कार्य भी उनके व्यक्तित्व के उस विशेष पहलू का एक स्पष्ट निदर्शन तथा प्रमाण था।''

वर्तमान लेख के उपसंहार के रूप में स्वामी आत्मानन्द के एक प्रिय सहचर तथा गुरुभाई स्वामी बोधानन्दजी की कुछ मर्मस्पर्शी उक्तियाँ स्मरणीय हैं। उन्होंने न्यूयार्क से लिखा था, ''उनकी वह दिव्य मूर्ति अब भी मेरे मन के सम्मुख विराज रही है। मैं हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार करता हूँ। उनका पुण्य जीवन हम लोगों के लिये एक ज्वलन्त आदर्श है। वह धर्मपथ के पथिकों के लिये ध्रुवतारे के सदृश है। स्वामी आत्मानन्द का जीवन-चरित पढ़कर पाठकगण धन्य तथा कृतार्थ होंगे। उनके चरणों में मैं एक बार फिर नमस्कार करता हूँ।''[३] ❖ **(समाप्त)** ❖

---

२. प्रबुद्ध भारत, नवम्बर १९२३

३. उद्बोधन, वर्ष १३५७ (बंगीय) का आषाढ़ अंक

कठोपनिषद्-भाष्य (१०)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनको जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।८ (३७) ।।

अन्वयार्थ – **अवरेण** हीनबुद्धि के **नरेण** व्यक्ति द्वारा **प्रोक्तः** उपदेश किये जाने पर **एषः** यह आत्मा **सुविज्ञेयः** उत्तम रूप से ज्ञात **न** नहीं होता, (क्योंकि यह) **बहुधा** (अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता आदि) बहुविध रूप से **चिन्त्यमानः** विचार का विषय नहीं है। **अनन्य-प्रोक्ते** आत्मा से अपने को अभिन्न बोध करनेवाले आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर **अत्र** इस आत्मा के विषय में **गतिः** है या नहीं आदि संशय की गति **न अस्ति** नहीं रह जाती, **अणु-प्रमाणात्** (बुद्धि की सहायता से) उसे अति सूक्ष्म प्रमाणित करने पर भी (वह दूसरे के द्वारा उससे भी अधिक) **अणीयान्** सूक्ष्मतर (प्रमाणित किया जाता है), **हि** क्योंकि (आत्मा) **अतर्क्यम्** तर्क का विषय नहीं है।

भावार्थ – हीनबुद्धि के व्यक्ति द्वारा उपदेश किये जाने पर यह आत्मा उत्तम रूप से ज्ञानगोचर नहीं होता, (क्योंकि यह) (अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता आदि) बहुविध रूप से विचार का विषय नहीं है। आत्मा से अपने को अभिन्न बोध करनेवाले आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर इस आत्मा के विषय में है या नहीं आदि संशय की गति नहीं रह जाती, (बुद्धि की सहायता से) उसे अति सूक्ष्म प्रमाणित करने पर भी (वह दूसरे के द्वारा उससे भी अधिक) सूक्ष्मतर (प्रमाणित किया जाता है), क्योंकि (आत्मा) तर्क का विषय नहीं है।

भाष्यम् – कस्मात् ? न हि नरेण मनुष्येण अवरेण प्रोक्तः अवरेण हीनेन प्राकृत-बुद्धिना इति एतत् उक्तः एषः आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठु सम्यक् विज्ञेयः विज्ञातुं शक्यः यस्मात् बहुधा अस्ति-नास्ति कर्ता-अकर्ता शुद्धो-अशुद्ध इत्यादि अनेकधा चिन्त्यमानः वादिभिः ।

भाष्य-अनुवाद – (प्रश्न) – क्यों (पद तथा अर्थ बताने पर भी धारणा क्यों नहीं होती)? (उत्तर) – जिसके विषय में तुम मुझसे पूछ रहे हो, वह आत्मा, निकृष्ट (देहात्म-बुद्धिवाले) मनुष्य के द्वारा कहे जाने पर निश्चय ही ठीक-ठीक नहीं जानी जा सकती, क्योंकि तार्किक (दार्शनिक) लोग इस (आत्मा) के विषय में 'इसका अस्तित्व है', 'नहीं है', 'यह कर्ता है', 'अकर्ता है', 'शुद्ध है', 'अशुद्ध है' – इस प्रकार अनेक प्रकार से चिन्तन करते रहते हैं।

कथं पुनः सुविज्ञेय इति?

(प्रश्न) – तो यह कैसे ठीक-ठीक जाना जा सकता है?

उच्यते – अनन्य-प्रोक्ते अनन्येन अपृथक्-दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्य-ब्रह्म-आत्मभूतेन प्रोक्ते उक्ते आत्मनि, गतिः अनेकधा अस्ति-नास्ति-इत्यादि-लक्षणा चिन्ता गतिः, अत्र अस्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्व-विकल्प-गति-प्रत्यस्तमित-रूपत्वात् आत्मनः ।

बताते हैं – जब यह किसी अनन्य व्यक्ति अर्थात् सर्वत्र अभेददर्शी तथा प्रतिपाद्य ब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में देखनेवाले अर्थात् जो ब्रह्म तथा आत्मा में भेद नहीं देखते, ऐसे आचार्य के द्वारा कहा जाता है, तब इस आत्मा के विषय में – 'है', 'नहीं है' आदि बहुविध विचारों के लिये कोई गति या सम्भावना नहीं रह जाती, क्योंकि सभी प्रकार के विकल्प या भेद का अभाव ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

अथवा स्वात्मभूते अनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्ते अनन्य-प्रोक्ते गतिः अत्र अन्य-अवगतिः न अस्ति ज्ञेयस्य अन्यस्य अभावात् । ज्ञानस्य हि एषा परा निष्ठा यत्-आत्म-एकत्व-विज्ञानम् । अतः अवगन्तव्य-अभावात् न गतिः अत्र-अवशिष्यते ।

अथवा अनन्यप्रोक्ते का अर्थ हुआ – अनन्य या अभिन्न आत्मा का उपदेश किये जाने पर इस जगत् में अन्य किसी वस्तु की प्रतीति नहीं रह जाती, क्योंकि तब जानने योग्य अन्य कोई वस्तु रह नहीं जाती। क्योंकि आत्मा के एकत्व विज्ञान (बोध) ज्ञान (बुद्धिवृत्ति) की चरम सीमा है। अतः ज्ञेय के अभाव में कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता।

संसार-गतिः वा अत्र न अस्ति, अनन्य आत्मनि प्रोक्ते न अन्तरीयकत्वात् तत्-विज्ञान-फलस्य मोक्षस्य ।

या फिर इसका अर्थ हो सकता है कि तब आत्मा की कोई संसार-गति नहीं रह जाती अर्थात् इसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि आत्मा के ब्रह्म से अभिन्न होने का उपदेश दिये

जाने पर मोक्ष ही उस ज्ञान का तत्काल फल है।

अथवा प्रोच्यमान-ब्रह्मात्म-भूतेन आचार्येण अनन्यतया प्रोक्ते आत्मनि अगतिः अनवबोधो अपरिज्ञानम् अत्र नास्ति। भवति एव अवगतिः तत्-विषया श्रोतुः 'तद्-अस्मि अहम्' इति आचार्यस्य इव इत्यर्थः।

अथवा जो आचार्य कहे जा रहे ब्रह्म का अपनी आत्मा के रूप में जान चुके हैं, ऐसे आचार्य द्वारा उपदेश दिये जाने पर आत्मा के विषय में अगति अर्थात् अज्ञान नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि आचार्य के समान ही श्रोता को भी उस विषय में 'वह ब्रह्म मैं हूँ' – ऐसा ज्ञान हो जाता है।

एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येण अनन्यतया प्रोक्तः। इतरथा हि अणीयान् अणुप्रमाणात् अपि सम्पद्यते आत्मा। अतर्क्यम् अतर्क्यः, स्वबुद्ध्या अभ्यूहेन केवलेन तर्केण। तर्क्यमाणे अणु-परिमाणे केनचित् स्थापिते आत्मनि ततः अणुतरम् अन्यो अभ्यूहति ततः अपि अन्यः अणुतरम् इति। न हि तर्कस्य निष्ठा क्वचित् विद्यते ।।८।।

तात्पर्य यह कि शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न आचार्य के द्वारा स्वयं से अभिन्न रूप में बताया जाता है, तो इस आत्मा का सम्यक् रूप से ज्ञान हो जाता है। अन्यथा यह आत्मा सूक्ष्म अणु से भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है। (क्योंकि) यह अतर्क्य है, केवल अपनी बुद्धि के बल पर तर्क के द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति तर्क के द्वारा आत्मा को अणु के (सूक्ष्म) आकार का सिद्ध कर दे, तो कोई दूसरा उससे भी अधिक सूक्ष्मतर सिद्ध कर सकता है और हो सकता है कोई अन्य उसे सूक्ष्मतम सिद्ध कर दे; क्योंकि तर्क की कहीं कोई सीमा नहीं हो सकती।

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।९ (३८)।।

अन्वयार्थ – **प्रेष्ठ** हे परम प्रिय, **याम्** जो (आत्म-विषयक बुद्धि) **त्वम्** तुमने **आपः** प्राप्त किया है, **एषा** यह **मतिः** बुद्धि **तर्केण** तर्क के द्वारा **न आपनेया** नहीं प्राप्त होती। **अन्येन एव** (तार्किक से भिन्न) शास्त्रों के अर्थदर्शी द्वारा ही **प्रोक्ता** प्रकृष्ट रूप से उपदेश दिये जाने पर **सुज्ञानाय** सम्यक् ज्ञान का कारण होता है। **नचिकेतः** हे नचिकेता, (तुम) **सत्य-धृतिः बत असि** सचमुच ही परमार्थ के विषय में धारणा से युक्त हुए हो। **त्वादृक्** तुम्हारे जैसे **प्रष्टा** जिज्ञासु **नः** हमें **भूयात्** प्राप्त हों।

भावार्थ – हे परम प्रिय, जो (आत्म-विषयक) बुद्धि तुमने प्राप्त की है, यह बुद्धि तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त होती। (तार्किक से भिन्न) शास्त्रों के अर्थदर्शी द्वारा ही प्रकृष्ट रूप से उपदेश दिये जाने पर सम्यक् ज्ञान का कारण होता है। हे नचिकेता, (तुम) सचमुच ही परमार्थ के विषय में धारणा से युक्त हुए हो। तुम्हारे जैसे जिज्ञासु हमें प्राप्त हों।

भाष्यम् – **अतः अनन्य-प्रोक्तः आत्मनि उत्पन्ना या इयम् आगम-प्रभवा मतिः, नैषा तर्केण स्वबुद्ध्या अभ्यूहमात्रेण आपनेया नापनीया न प्रापणीया इत्यर्थः न आपनेतव्या, वा न उपहन्तव्या। तार्किको हि अनागम्-अज्ञः स्वबुद्धि-परिकल्पितं यत्किञ्चित् एव कल्पयति। अत एव च या इयम् आगम-प्रभूता मतिः अन्येन एव आगम-अभिज्ञेन आचार्येण एव तार्किकात् प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति, हे प्रेष्ठ प्रियतम।**

भाष्य-अनुवाद – अतएव ब्रह्मात्म-बोध-सम्पन्न आचार्य द्वारा कथित शास्त्र-ज्ञान से उत्पन्न (आत्मा-विषयक) यह जो मति है, यह केवल तर्क अर्थात् अपनी बुद्धि के व्यायाम मात्र से प्राप्त होनेवाली नहीं है, या इसे मिटाया, या नष्ट नहीं किया जा सकता। शास्त्र-ज्ञान से रहित तार्किक व्यक्ति अपनी बुद्धि के द्वारा जो भी सम्भव है, वैसी कल्पना किया करता है। अतः हे प्रियतम, तार्किक व्यक्ति द्वारा नहीं, अपितु शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा कहे जाने पर, शास्त्र-ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली यह मति या बुद्धि, सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि का कारण बनती है।

का पुनः सा तर्कागम्या मतिः इति उच्यते – यां त्वं मतिं मत्-वर-प्रदानेन आपः प्राप्तवान् असि। सत्या अवितथ-विषया धृतिः यस्य तव स त्वं सत्यधृतिः। बतासि इति अनुकम्पयन् आह मृत्युः नचिकेतसं वक्ष्यमाण-विज्ञान-स्तुतये। त्वादृक् त्वत्तुल्यः नः अस्मभ्यं भूयात् भवतात् भवतु अन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा। कीदृक्? यादृक् त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ।।१/२/९।।

वह तर्क द्वारा अगम्य मति क्या है, (यमराज) अब यही बताते हैं। जो बुद्धि तुम्हें मेरे वरदान के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। तुम सत्य धारणा या संकल्प वाले हो, तुम्हारा संकल्प सत्य वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ है। यमराज नचिकेता के प्रति अनुकम्पा प्रकट करते हुए, 'बत' तथा 'असि' शब्द के द्वारा, बाद में कहे जानेवाले ज्ञान की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – मेरे अन्य पुत्र या शिष्य भी मुझे तुम्हारे समान प्रश्नकर्ता या जिज्ञासु के रूप में प्राप्त हों। – कैसे? – हे नचिकेता, जैसे तुम प्रश्नकर्ता हो, वैसे ही।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

महावाक्य पर विचार

यत्परं सकलवागगोचरं
गोचरं विमलबोधचक्षुषः ।
शुद्धचिद्घनमनादि वस्तु यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५५।।

अन्वय – यत् परं सकल-वाक्-अगोचरम्, विमल-बोध-चक्षुषः गोचरम्, शुद्ध-चिद्घनम् अनादि वस्तु यद् ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो सर्वश्रेष्ठ है, समस्त वाणियों का अविषय है, विशुद्ध ज्ञानरूपी नेत्र का विषय है, ऐसा जो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अनादि वस्तु है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो, ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

षड्भिरूर्मिभिरयोगि योगिहृद्-
भावितं न करणैर्विभावितम् ।
बुद्ध्यवेद्यमनवद्यमस्ति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५६।।

अन्वय – षड्भिः ऊर्मिभिः अयोगि, योगि-हृद्-भावितम्, न करणैः विभावितम्, बुद्धि-अवेद्यम्, यद् अनवद्यम् ब्रह्म अस्ति, तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो भूख, प्यास, शोक, मोह, वार्धक्य तथा मृत्यु – इन छह तरंगों के स्पर्श से अतीत है, जिसका योगिजन हृदय में चिन्तन करते हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत नहीं हो सकता, जो बुद्धि के परे है, ऐसा जो निर्दोष ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो, ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

भ्रान्ति-कल्पित-जगत्कलाश्रयं
स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम् ।
निष्कलं निरुपमानवद्धि यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५७।।

अन्वय – भ्रान्ति-कल्पित-जगत्-कला-आश्रयं स्व-आश्रयं सद्-असद्-विलक्षणं निष्कलं च निरूपमानवत् हि यद् ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो भ्रान्ति द्वारा कल्पित इस जगत् तथा इसके अंशों का आश्रय है, जो स्वयं ही अपना आश्रय है, जो कारण तथा कार्य अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल से भिन्न है, जो अवयवरहित अर्थात् अखण्ड है, जिसकी कोई उपमा नहीं हो सकती, ऐसा जो ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो, ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

जन्म-वृद्धि-परिणत्यपक्षय-
व्याधि-नाशन-विहीनमव्ययम् ।
विश्व-सृष्ट्यववघात-कारणं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५८।।

अन्वय – जन्म-वृद्धि-परिणति-अपक्षय-व्याधि-नाशन-विहीनम् अव्ययम् विश्व-सृष्टि-अवविघात-कारणं ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो जन्म, वृद्धि, बदलाव, क्षय, रोग तथा मृत्यु – इन छह विकारों से रहित है, जो अव्यय है, जो विश्व की सृष्टि तथा विनाश का कारण है, ऐसा जो ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो – ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं
निस्तरङ्गजलराशिनिश्चलम् ।
नित्यमुक्तमविभक्तमूर्ति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५९।।

अन्वय – अस्त-भेदम् अनपास्त-लक्षणम् निस्तरङ्ग-जलराशि-निश्चलम् नित्य-मुक्तम् अविभक्त-मूर्ति यद् ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जिसमें भेदों का अस्त या नाश हो चुका है, जो अस्ति या सत्ता मात्र लक्षणवाला है, जो तरंगरहित समुद्र की भाँति निश्चल है, जो नित्यमुक्त है, जो भेदरहित अर्थात् अखण्ड स्वरूप वाला है, ऐसा जो ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो – ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

एकमेव सदनेक-कारणं
कारणान्तर-निरास्यकारणम् ।
कार्यकारण-विलक्षणं स्वयं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६०।।

अन्वय – एकम् एव सत् अनेक-कारणम् कारणान्तर-निरासि-अकारणम् कार्य-कारण-विलक्षणं स्वयम्, ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो एक ही सत्ता होकर भी अनेक विषयों की उत्पत्ति का कारण है, जो अन्य सभी कारणों के निषेध करने का कारण है, (परन्तु) जो स्वयं कार्य तथा कारण से भिन्न है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो – ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं
यत्क्षराक्षरविलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६१।।

अन्वय – निर्विकल्पकम् अनल्पं अक्षरं क्षर-अक्षर-विलक्षणं परम् नित्यं अव्ययसुखं निरञ्जनं यत् ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो निर्विकल्प, असीम तथा अविनाशी है, जो क्षर तथा अक्षर जगत् से भिन्न है; जो सर्वश्रेष्ठ, चिरन्तन, नित्यानन्द-स्वरूप, निरंजन (निष्पाप) है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो – ऐसा अपने अन्त:करण में चिन्तन करो।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२००. जिह्वा वश में रहे तो, मन वश में आ जाय

एक बार एक व्यक्ति ने संत बशर हाफी से कहा, "मैंने सुना है कि बगदाद के लोग खाते समय उचित और अनुचित का ख्याल नहीं करते। बताइये, आप जायज का खाना पसन्द करते हैं या नाजायज का?" बशर ने उत्तर दिया, "आप जैसा खाते हैं, वैसा ही मैं भी खाता हूँ। फकीर की कोई अलग किस्म नहीं होती। वह भी आपकी तरह मनुष्य ही है।" "मगर आपको फकीर का दर्जा कैसे हासिल हुआ?" यह पूछने पर उन्होंने बताया, "हाथ को छोटा करके यानी कम खाने के कारण।" उसने फिर पूछा, "आपके मुताबिक खाने का ढंग कैसा होना चाहिए?" उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे मुताबिक फकीर तीन दर्जे के होते हैं – एक तो वह, जिसे जो भी मिलता है, खुदा का दिया हुआ मानकर खा लेता है। वह भूखा कभी नहीं रहता। दूसरा वह, जिसे जो भी मिलता है, उसी में सन्तुष्ट होकर अन्य कुछ पाने की चाह नहीं रखता। तीसरी श्रेणी के फकीर यदि कुछ मिला, तो उसी में सब्र कर लेते हैं और न मिलने पर फाकामस्ती में ही दिन गुजार देते हैं। दूसरे दिन भी कुछ न मिला, तो वे खुदा की मर्जी मानकर कुछ खाने की कोशिश नहीं करते। मैं इस तीसरे दर्जे का फकीर बनने की कोशिश में लगा हूँ।"

वह व्यक्ति जान गया कि फकीरों के लिए खानपान में भी परहेज या संयम रखना जरूरी है। चटोरी जबान पर काबू पाये बिना किसी से भी फकीरी नहीं सध सकती।

२०१. कभी सहो अन्याय मत

एक बार मुन्शी प्रेमचन्द सपत्नीक इंटर क्लास से बनारस जा रहे थे। रेल में बड़ी भीड़ थी। एक छोटे स्टेशन पर रेल रुकते ही कुछ देहाती उस डिब्बे में सवार हो गये। लोगों ने उन्हें उतरने को कहा, किन्तु तब तक रेल चल पड़ी थी। डिब्बे में टी. सी. भी मौजूद था। उसने देहातियों से जुर्माना भरने या उतरने को कहा। प्रेमचंदजी ने सुना, तो वे टी. सी. के पास आकर बोले, "इनके साथ मैं भी उतरूँगा।" "आप कैसे उतरेंगे, आपके पास तो टिकट है।" टी. सी. ने उनसे कहा। प्रेमचन्दजी ने गुस्से में उत्तर दिया, "जब तीसरे दर्जे के डिब्बे में जगह नहीं हो, तो इन्हें टिकट क्यों दी गई? जब इन्हें टिकट दी गई है, तो आपका फर्ज बनता है कि उस डिब्बे में इनके बैठने की व्यवस्था करें। जब तक आप ऐसा नहीं करेंगे, मैं यात्रा नहीं करूँगा।" तब तक प्रेमचन्दजी की पत्नी वहाँ पहुँच चुकी थीं। उन्होंने मुन्शीजी से कहा, "आप इस झमेले में पड़कर नाराज क्यों हो कर रहे हैं?' प्रेमचंदजी ने जवाब दिया, "इसलिये कि मैं आदमी हूँ – जिंदा आदमी। और जिंदा आदमी अन्याय को देखकर कभी शान्त नहीं रह सकता। टी. सी. प्रेमचन्दजी को पहचानता था। उसने उन्हें आश्वासन दिया कि वह देहातियों की अगले स्टेशन में तीसरे दर्जे के डब्बे में बिठाने की व्यवस्था करेगा। उसने दिया हुआ वचन निभाया और प्रेमचन्दजी को सूचित भी किया।

असहाय लोगों पर हो रहे अन्याय को मूक दर्शक बनकर देखना एक तरह से अन्याय का समर्थन ही है।

२०२. भेदभाव मत कीजिये

सन्त विनोबा की आयु तब छह वर्ष की थी। उनके पड़ोस की एक गरीब विधवा बहुत बीमार थी। उनकी माँ ने पड़ोसन की यथोचित सेवा-शुश्रूषा की, परन्तु एक दिन वह चल बसी। मरने के पूर्व उसने विनोबा की माता से वचन ले लिया था कि वह विनोबा के ही समवयस्क उसके बेटे का भी पालन-पोषण करेगी। विनोबा की माँ ने न केवल वादा निभाया, बल्कि वे अपने बेटे नारायण (विनोबाजी का मूल नाम) से भी अधिक उस बालक की ओर ध्यान देतीं। जल्दी ही नारायण और वह बालक – दोनों अच्छे दोस्त बन गये। दोनों साथ-साथ स्कूल जाते और साथ-साथ खेला करते।

एक दिन यह बात नारायण के ध्यान में आ गयी कि माँ इस बालक का ज्यादा ख्याल रखती है। इस पर वह माँ से बोला, "माँ, जब से यह बालक हमारे घर में रहने आया है, तब से तुम मेरे साथ भेदभाव बरतती हो। हम दोनों को चोट लगने पर पहले तुम उसकी मरहम-पट्टी करती हो। ऐसा क्यों? क्या मैं तुम्हारा बेटा नहीं हूँ?"

माँ ने उत्तर दिया, "बेटा तू ठीक कहता है कि मैं तेरी अपेक्षा उसकी ओर ज्यादा ध्यान देती हूँ। बेटे, अपने बच्चों का ख्याल तो हर माँ करती है, परन्तु अनाथ बच्चा तो दुनिया में बेसहारा होता है, इसलिए पड़ोसी होने के नाते क्या उसकी देखभाल करने का मेरा कर्त्तव्य नहीं बनता? मैं हर बच्चे को भगवान की प्रतिमूर्ति मानकर उसकी सेवा करना मानव-धर्म समझती हूँ। मगर क्या मैं तेरा पेट काटकर, या तुझे भूखा रखकर तेरा निवाला उसे देती हूँ? मैं तो दोनों पर समान रूप से अपना स्नेह-दुलार लुटाती हूँ।" यह सुनकर बालक नारायण की आँखों में आँसू आ गये। जिस प्रकार उनकी माँ हर बालक को भगवान का रूप मानती थी, वैसे ही उसे भी अपनी माता साक्षात् देवी प्रतीत हुई।

रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्रों द्वारा आयोजित कार्यक्रमों की कुछ झलकियाँ –

विवेक-एक्सप्रेस

सम्पूर्ण देशवासियों को जागृत करने के लिये भारतीय रेल-मंत्रालय के द्वारा स्वामी विवेकानन्दजी की १५० वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में १२ जनवरी, २०११ से 'विवेक-एक्सप्रेस' नामक एक विशेष ट्रेन चलायी गयी। इस ट्रेन को तत्कालीन रेलमंत्री सुश्री ममता बनर्जी ने कलकत्ता रेलवे स्टेशन से हरी झण्डी दिखाकर रवाना किया। इसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित प्रदर्शनी लगायी गयी है। अब तक यह ट्रेन पश्चिम बंगाल, बिहार, असम, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक आदि स्थानों का भ्रमण कर चुकी है। उपरोक्त स्थानों के लाखों लोग इसका परिदर्शन कर चुके हैं। यह २०११ से २०१३ तीन वर्षों तक पूरे देश के विभिन्न महत्त्वपूर्ण स्टेशनों पर जायेगी। अपने क्षेत्र के स्टेशनों पर इस विशेष ट्रेन के आने की तिथि जानने के लिये रेलवे प्रबन्धन के अधिकारियों से सम्पर्क किया जा सकता है।

रामकृष्ण मिशन का स्थापना दिवस

रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ में १ मई, २०११ का रामकृष्ण मिशन का स्थापना दिवस मनाया गया। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज ने की। संघ के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी मुख्य वक्ता थे। स्वामी सुहितानन्दजी, स्वामी भजनानन्दजी और स्वामी सुवीरानन्दजी ने भी व्याख्यान दिये।

रामकृष्ण मठ, मयलापुर, चेन्नई

१० से १२ जून तक तीन दिनों का एक आवासीय युवा-शिविर आयोजित किया गया था। इस शिविर में सम्पूर्ण तमिलनाडु के विभिन्न भागों के लगभग २०० कॉलेजों के छात्रों ने भाग लिया। इस शिविर में युवकों को व्यक्तित्व-विकास के सूत्र बताये गये।

इसी मठ के तत्त्वावधान में विगत २८ जुलाई को स्वामी रामकृष्णानन्द की १४९ वीं जयन्ती के क्रम में विशेष तिथि-पूजनोत्सव सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मंगल-आरती, मन्दिर-प्रदक्षिणा, श्रीविष्णु-सहस्रनाम-पठ, कुंकुम-अर्चना, विडियो-शो, भजन-गान, प्रवचन आदि सम्पन्न हुए। मठ के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्दजी ने नव-प्रकाशित पुस्तकों तथा एक नवनिर्मित डी. वी. डी. का लोकार्पण किया।

श्रीरामकृष्ण का मातृभाव

रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता के तत्त्वावधान में आयोजित स्वामी गहनानन्द स्मृति व्याख्यान के क्रम में विगत १६ जुलाई को रामकृष्ण मठ, बाँकुड़ा के अध्यक्ष स्वामी मुक्तिकामानन्दजी ने बँगला भाषा में 'श्रीरामकृष्ण का मातृभाव' विषय पर भक्तों को सम्बोधित किया। रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के श्रीमत् स्वामी स्वतंत्रतानन्दजी ने समारोह की अध्यक्षता की।

रामकृष्ण मिशन, चंडीगढ़

ने मई, २०११ में हरियाणा के पाँचकुला के दो विद्यालयों में शिशु नेत्र सजगता प्रकल्प चलाया। इस प्रकल्प के तहत आश्रम के द्वारा ८८६ बच्चों की नेत्र-जाँच करायी गयी और उनमें से ५८ बच्चों को नि:शुल्क चश्मे प्रदान किये गये।

रामकृष्ण मठ, नागपुर

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में बेलूड़ मठ द्वारा संचालित 'गदाधर प्रकल्प' में नागपुर मठ ने सेवानन्द विद्यालय, कोराड़ी के १०० छात्र-छात्राओं को पौष्टिक आहार, खेल-सामग्री, प्रोजेक्टर एवं ड्रेस प्रदान किया। ५ जुलाई, २०११ नागपुर मठ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मस्थानन्दजी ने १०० बच्चों को गणवेश प्रदान किये।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, मालदा

ने अगस्त, २०११ में बाढ़ से ग्रस्त मालदा जिले के बिलाईमारी और जंजालीटोला ग्राम में २ सप्ताह तक राहत कार्य चलाया, जिसमें पीड़ितों के बीच ७४६ किलो चिउड़ा, ५९२ किलो चीनी, ९२३ किलो दाल, ४४०० पैकेट बिस्कुट, १०९९ पैकेट दूध-पाउडर, ६५० स्टील की थाली, ९०० पैकेट नमक आदि वितरित किये गये।

Phone EPBX :
(033) 2654 1144 / 1180 / 9581 / 9681
(033) 2654 5700 / 5701 / 5702 / 5703
Fax : 91-033-2654 9885
E-mail : rkmrelief@gmail.com
Website : www.belurmath.org/relief

रामकृष्ण मिशन
(राहत विभाग)
पो. बेलूड़ मठ, जिला हावड़ा
पश्चिम बंगाल, पिन ७११ २०२

पश्चिम बंगाल में बाढ़ राहत कार्य

हाल ही में होनेवाली लगातार बारिश और दामोदर घाटी निगम द्वारा पानी छोड़े जाने की वजह से, पश्चिम बंगाल में आयी हुई बाढ़ द्वारा पीड़ितों के सहायतार्थ रामकृष्ण मिशन ने अपने छह शाखा-केन्द्रों – आँटपुर, इछापुर, मालदा, नाओरा, सारगाछी और सिकरा-कुलीनग्राम – के माध्यम से उनके आसपास के इलाकों में बाढ़-प्रभावित परिवारों के बीच प्राथमिक राहत कार्य शुरू कर दिया है। राहत कार्यों का विवरण निम्नलिखित है –

इन छह शाखा-केन्द्रों के द्वारा पका हुआ भोजन (खिचड़ी) और चिउड़ा, गुड़, चीनी, बिस्कुट, दूध पाउडर, राशन, हैलोजेन गोलियाँ तथा ब्लीचिंग पाउडर आदि प्रदान किये जा रहे हैं।

इसके अनतर्गत रामकृष्ण मिशन ने हुगली जिले के जंगीपारा, हरिपाल, परसूरा तथा खानकुल (२) ब्लॉकों, हावड़ा जिले के उदय नारायणपुर ब्लॉक, मालदा जिले के रतुआ तथा हरिश्चन्द्रपुर ब्लॉक, दक्षिणी २४ परगना जिले के मुलचटकी तथा कबला-कुसंग्रा अंचल में, उत्तरी २४ परगना जिले के स्वरूप नगर ब्लॉक के चारघाट पंचायत और बदुरिया ब्लॉक के चन्द्रा पंचायत और मुर्शिदाबाद जिले के खरग्राम तथा सुती ब्लाकों में हजारों बाढ़-पीड़ितों को राहत पहुँचाया जा रहा है। पूर्व मेदिनीपुर के मैना ब्लॉक, पश्चिमी मेदिनीपुर के पिंगला ब्लाक और हावड़ा जिले के आम्ता ब्लॉक में राहत-कार्य आरम्भ करने के लिये कदम उठाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे बेलघरिया तथा नरेन्द्रपुर केन्द्रों द्वारा भी बाँध टूटने के फलस्वरूप आयी बाढ़ के पीड़ितों के लिये पूर्व तथा पश्चिम मेदिनीपुर के दसपुर-१, दसपुर-२ तथा कोलाघाट ब्लाकों में राहत कार्य सम्पन्न किया गया।

"रामकृष्ण मिशन" को दिये गये सभी दान आयकर अधिनियम के ८०-जी धारा के तहत आयकर से छूट प्राप्त है। दान की राशि नकद या "रामकृष्ण मिशन" के नाम पर चेक या डिमाण्ड ड्राफ्ट बनवाकर निम्नलिखित पते पर भेजा जा सकता है –

THE GENERAL SECRETARY
Ramakrishna Mission
P.O. Belur Math, Dist. Howrah, W. B. 711 202
Phone : 2654 1144/ 1180/ 5700/ 5702/ 9681; Fax : 2654 9885
E-mail : rkmrelief@gmail.com / relief@belurmath.org
Website : www.belurmath.org/relief (Online donation possible)

१६ अगस्त २०११

(स्वामी प्रभानन्द)
महासचिव